महाकवि गुलाब खंडेलवाल का जीवनदर्शन

प्रतिभा खंडेलवाल

कमल प्रकाशन
प्रतापगढ़ (उ. प्र.)

प्रकाशक :
कमल प्रकाशन
१०५ मकन्दुगंज, चौक,
प्रतापगढ़–२३०००१
(उ. प्र.)

Copyright प्रतिभा खंडेलवाल
email : prtbha@yahoo.com

प्राप्ति स्थान :

५६, जय अपार्टमेन्ट
१०२ आई. पी. एक्स्टेंशन
पट्पड़्गंज, नई दिल्ली– ११००९२, भारत

3477 Hunting Run Road
Medina, OH, 44256 U.S.A.

प्रथम संस्करण, २००९

मूल्य : भारत – २५० रु.
विदेश – १५ डॉलर

मुद्रक : पवन ऑफ़सेट प्रिन्टर्स
दिलशाद गार्डेन, दिल्ली – ३२
फ़ोन : ९८१०९१०१६०

समर्पण

पूज्य माँ श्रीमती कृष्णा देवी को

जिनके चाव से ही यह कृति प्रकाश में आई है.

अपनी बात

आजीवन काव्य के प्रति प्रतिबद्ध इस महाकवि के वृहद् काव्य-संसार में प्रवाहित जीवन की धड़कन को सुनाने के लिए स्टेथिस्कोप बनने का दुस्साहस कर रही हूँ.

किसी स्वजन की शल्यक्रिया जैसे इस कठिन कर्म के बीच, मैं कवि के ही शब्दों में अपने आप से यह पूछती रही.

"मैंने यह साँप क्यों पकड़ा है
कि जिसने उलटकर मुझको ही
सिर से पाँवों तक जकड़ा है?"
(ग्रं. १, भाग १, पृ. ३४२)

पर कभी-कभी सूरज को भी दीपक दिखाना पड़ता है.

जितना मैंने पाया है, उसका दशांश भी व्यक्त नहीं कर पाई हूँ. यदि काव्य, जीवन तथा विभिन्न भावों के प्रति कवि के दर्शन से एक सामान्य व्यक्ति को कुछ भी परिचित करा पाई तो मैं अपना प्रयास सफल समझूँगी.

प्रतिभा खंडेलवाल
२००८

प्रस्तुति

महाकवि श्री गुलाबजी वस्तुतः मेरे भारत राष्ट्र के एक ऐसे अप्रतिम कवि हैं, जिन्होंने संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी तथा भारत के लोक साहित्य के काव्य की विविध विधाओं में अपना काव्य-सर्जन तो किया ही, साथ ही अपने मौलिक चिन्तन और विलक्षण प्रतिभा से उन विधाओं को नवीन आयाम भी दिया है. हिन्दी साहित्य के इतिहास में छायावादोत्तर कवियों की सांस्कृतिक चेतना के महाकवि के रूप में गुलाबजी का अक्षर उल्लेख सदा अमर रहेगा.

महाकवि की मनीषी सुपुत्री प्रतिभाजी ने अपने पूज्य पिताजी की सभी रचनाओं को, लगता है, इस प्रकार हृदयंगम कर लिया है कि महाकवि के संपूर्ण काव्य-व्यक्तित्व को साकार रूपायित कर 'सहृदय पाठक' के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया है. विदुषी लेखिका ने जहाँ काव्य-दर्शन के सभी उपकरणों का सटिप्पण भाष्य करके पाठकों को अत्यन्त विरल सामग्री परोसी है वहीं दूसरी ओर जीवन-दर्शन के जीवन, जगत और भाव-दर्शन की पांडित्यपूर्ण व्याख्या भी की है. इन महाभाष्य और व्याख्यायित सन्दर्भों का महाकवि की सर्जनधर्मिता से सानुबन्ध संसर्ग अपूर्व है. किसी कवि की रचनाओं में उपस्थित जीवन-दर्शन का, लक्षण और लक्ष्य की प्रतिपत्ति का सान्दर्भिक प्रस्तुतीकरण करनेवाले ग्रंथ हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में विरल ही प्राप्त है.

प्रतिभाजी की इस विलक्षण कृति के पारायण के पश्चात मैं इतना अभिभूत हूँ कि सोचता हूँ कि यदि मैं संन्यासी न होता तो ऐसे कृतकार्य का मैं भी रचनाकार हस्ताक्षर होने का स्वप्न देखता.

हिन्दी के सुप्रसिद्ध समीक्षक एवं यशस्वी तथा मेरे मित्र स्वर्गीय डॉक्टर रामेश्वरलाल खंडेलवाल 'तरुण' ने जब पचास वर्ष पूर्व महाकवि गुलाबजी का परिचय देते हुए उनकी एक काव्यकृति मुझे सौंपी थी तो मेरे मन में महाकवि की ऊर्ध्वमुखी चेतना का तभी आभास हो गया था. तब से आज तक महाकवि की रचनाओं में सराबोर होता रहा हूँ किन्तु प्रतिभाजी की इस बहुमूल्य कृति ने मुझे भी महाकवि के काव्यपुरुष की अन्तर्भेदिनी दृष्टि एवं उनके काव्यसंसार के विषद व्यापकत्व की परम अनुभूति करा दी है.

'महाकवि गुलाब खंडेलवाल का जीवन-दर्शन' की रचना करके प्रतिभाजी ने अपने पूज्य पिताजी की और अपनी पूज्य माताजी श्रीमती कृष्णादेवी के प्रति पितृऋण तथा मातृऋण दोनों की सश्रद्ध अभ्यर्थना कर दी है. स्वस्ति

जन्मोत्सव
१५-३-२००८

स्वामी डॉ. ओम् आनन्द सरस्वती
प्रतापनगर कन्या गुरुकुल
चित्तौड़गढ़ - ३२१००१
राजस्थान (भारत)

महाकवि गुलाब खंडेलवाल का जीवनदर्शन

विषय–सूची

क. काव्य–दर्शन

1. काव्य–शास्त्र का संक्षिप्त परिचय 1
(कवि : कविता, काव्य के उपकरण,
भाव तथा शैली)
2. काव्य–संसार 8
(कविता, कविता : मर्मवेदना,
काव्य के उपकरण, शब्द, छंद,
काव्य–कौशल, प्रेषणीयता,
विषय–वस्तु, सत्यं–शिवं–सुन्दरं,
रस, गीति–काव्य, तुलनात्मक आलोचना)
3. काव्य–परिवार 37
(अपनी कविता के प्रति, सहृदय,
आलोचक, कवि : कविता)
4. काव्य–रचना और ईश्वरीय कृपा 60

ख. जीवन–दर्शन

5. जीवन 64
(आत्मा, भाग्यवाद, मनुष्य, जीवन : मरण,
उपलब्धियाँ, कर्म, जीवन–कला, जीवन–व्यवहार)
6. जगत 84
(संसार, सुख : दुःख, संत : कवि, धर्म : साहित्य,
ज्ञान : भावना, ज्ञान : अज्ञान, मन, वैराग्य, संघर्ष, काल,
मिट्टी, त्याग : भोग, आडम्बर, सिद्धान्त : व्यवहार,
आपाधापी, सत्य, न्याय, लोक–व्यवहार, व्यर्थता–बोध,
बेचारगी, लक्ष्यहीनता, एकाकीपन, संगीहीनता,
अविश्वास, निराशा, घुटन, संत्रास, दिशाहीनता, खोखलापन,
जीवन–संघर्ष, व्यर्थता, निराशा, उपेक्षा और टूटन)

ग. भाव–दर्शन

7. प्रेम–भावना 114
8. रूप 124
9. नारी–भावना 130
10. रहस्य–भावना 140
11. राष्ट्रीयता (देश–प्रेम) 149
12. राजनीति 154
13. मृत्यु–भावना 157
14. भक्ति–भावना 168

घ. अन्त में 204

काव्य–शास्त्र का संक्षिप्त परिचय

कविता : कवि

"कवयीति कविः तस्य कर्मः काव्यम्"

(विद्याधर)

कवि का अर्थ है कविता करनेवाला तथा उसका कर्म ही काव्य है.

काव्य को आचार्य कुन्तक ने 'वक्रकविव्यापार' या 'कवि–व्यापार–वक्रता' कहा है. (वक्रोक्तिजीवितम्)

आचार्य मम्मट के अनुसार भी काव्य 'लोकोत्तरवर्णना निपुण कवि–व्यापार' है. (काव्यप्रकाश)

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि काव्य शब्द कवि के अर्थात् वैयक्तिक उपादान की ओर इंगित करता है. काव्य कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है. इससे कवि की अर्थात् कर्तृपक्ष की प्रधानता निरूपित होती है.

देहवादी (अलंकारवादी) तथा आत्मावादी (रस, ध्वनिवादी) दोनों प्रकार के आचार्यों ने कवि–प्रतिभा को काव्य का मूल माना है. प्रतिभा का क्षेत्र बहुत ही विशाल तथा विस्तृत है. कवि इसी के द्वारा अर्थ और शब्द, स्फुरण और अभिव्यंजन, दर्शन और व्यंजन, दोनों का उन्मीलन करता है.

कवि–प्रतिभा के दो पक्ष होते हैं

१. दृष्टि–पक्ष

२. सृष्टि–पक्ष

कवि तत्त्व–द्रष्टा और शब्द–स्रष्टा होता है. वह दर्शन करने और वर्णन करने – दोनों में समर्थ होता है.

अभिनवगुप्त के गुरु भट्टतौत ने इसकी बड़ी ही मार्मिक विवेचना की है

"स तत्त्व दर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कवि
दर्शनात् वर्णनाच्चा रूढ़ा लोके कविश्रुते
तथा हि दर्शने स्वच्छे नित्येप्यदि कवेर्मुने
नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णनः"

(काव्यानुशासन, पृ. ३७९)

अर्थात् कवि ऋषि होता है. शास्त्र में तत्त्व के दर्शन मात्र से कोई भी व्यक्ति कवि कहलाता है परन्तु लोक में कवि पदवी दर्शन तथा वर्णन दोनों के ही ऊपर अवलम्बित होती है.

इनमें से दर्शन काव्य के भाव–पक्ष तथा वर्णन शैली–पक्ष के अंतर्गत आता है.

मंत्र का द्रष्टा पुरुष ही ऋषि की उपाधि धारण कर सकता है. वस्तु के विचित्र भाव को, उसके अंतर्निहित धर्म को तत्त्व रूप से जानना ही दर्शन कहलाता है. दर्शन से युक्त होने के कारण कवि भी ऋषि कहलाता है. अतः भट्टतौत ने कहा है कि कवि 'अनृषि' नहीं होता, वह ऋषि ही होता है.

"कवयः क्रान्तदर्शिनः"

(काव्यानुशासन, भट्टतौत)

कवि क्रान्तिदर्शी होता है. वह वस्तु के बाह्य आवरण के पीछे छिपे, उसमें अंतर्निहित तत्त्व को भेदने की सामर्थ्य रखता है.

शुक्ल जी के अनुसार कवि के लिए कल्पना और भावुकता दोनों अनिवार्य है. भावुक जन कल्पना–संपन्न और भाषा पर अधिकार रखनेवाला होता है तभी कवि होता है.

इस प्रसंग में भट्टनायक का विवेचन द्रष्टव्य है. उनके अनुसार काव्य का उदय तब होता है जब शब्द–चिन्तन और अर्थ–संधान दोनों गौण हो जाते हैं तथा केवल व्यापार–प्राधान्य रह जाता है. शास्त्र, वेद आदि में शब्द प्रधान तथा इतिहास, आख्यानादि में अर्थ प्रधान होता है किन्तु जहाँ केवल व्यापार या क्रिया–तत्परता ही मुख्य है; शब्द, अर्थ उसके अंग मात्र हैं, वहाँ कवि की काव्य–रचना संपन्न होती है.

"शब्द प्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथक्विदुः
अर्थतत्त्वेन युक्तं तु वदन्त्याख्यानमेतयोः
द्वयोर्गुणात्वे व्यापार प्राधान्ये काव्यधीर्भवेत्
(ध्वन्यालोकलोचन, १–५, भट्टनायक)

काव्य के उपकरण

काव्य की आत्मा को साकार रूप देनेवाले तत्त्व हैं –शब्द, अर्थ, भाव, कल्पना और विचार.

शब्द–तत्त्व

कविता में शब्द तत्त्व की विशेषता विद्यमान रहती है. शब्दालंकार, परुषा, कोमला, उपनागरिका आदि वृत्तियाँ, गति–प्रवाह, संगीतमयता, आदि शब्द–तत्त्व के ही विविध रूप हैं. काव्य का श्रुतिगत प्रभाव तथा कविता की किसी पंक्ति के चिरस्मरणीय बनने के पीछे इसीकी शक्ति होती है. शब्द–तत्त्व कवि की भावलहरी और कल्पना को भी प्रेरित करता है. यही छन्द के विविध ढाँचों का निर्माण करता है. शब्द की साधारण गति गद्य में तथा नर्तन–गति पद्य में मिलती है.

कवि शब्द के व्यक्तित्व और चरित्र का पारखी होता है अतः उसके द्वारा प्रयुक्त शब्द के स्थान पर दूसरा शब्द नहीं रखा जा सकता. यही शब्द तत्त्व की अनिवार्यता है.

अर्थ–तत्त्व

काव्य में शब्द–चमत्कार से युक्त या रहित – दोनों अवस्थाओं में अर्थ अनिवार्य तत्त्व है. इसके बिना तो काव्य का अस्तित्व ही नहीं है. शब्द की प्रधान शक्ति अर्थ ही है. यह अर्थ अभिधा, लक्षणा और व्यंजना– इन तीन रूपों में व्यक्त होता है. अर्थ भाव और कल्पना का वाहक तथा सत्य–स्वरूप है. अर्थ का सम्यक् संयोजन या औचित्य बुद्धि–तत्त्व पर, साकारता कल्पना–तत्त्व पर और प्रभाव भाव–तत्त्व पर निर्भर करता है. अर्थात् अर्थ के द्वारा काव्य का सौंदर्य प्रकट होता है. शब्द, अर्थ, बुद्धि, भाव, कल्पना – सभी के चमत्कार एक साथ अर्थ के द्वारा घटित होते हैं.

भाव–तत्त्व

भाव मनोवेगों का संस्कार रूप में प्रतिष्ठित, स्मृत और पुनः अनुभूत स्वरूप है. यह सर्वाधिक प्रभावोत्पादक तत्त्व है. भाव ही कल्पना को प्रेरणा देता है, छन्द के स्वरूप का विधान करता तथा शब्द–प्रवाह के उत्स को खोलता है. भाव संक्रामक होते हैं. ये पाठक और श्रोता का भी संस्कार करते हैं. भाव काव्य का प्रकृत रूप होते हैं तथा बौद्धिक प्रयास और उक्ति–चमत्कार के अभाव में भी अपने वर्चस्व से कविता को प्रभावशालिनी बनाए रखते हैं. भाव संगीतात्मकता को भी प्रेरित करते हैं. गीति–काव्य में भाव–तत्त्व की प्रमुखता रहती है.

कल्पना–तत्त्व

कल्पना की सामर्थ्य ही कवि की प्रतिभा है. विभिन्न अलंकार इसीके परिणाम हैं. कल्पना रूप की सृष्टि करने में समर्थ होती है. इसके बल पर ही कवि भावों तथा निराकार वस्तुओं को आकार देता है. चरित्र–चित्रण करना, घटना–क्रम उपस्थित करना, सुदूरस्थ को प्रत्यक्ष की तरह

और अप्रत्यक्ष अतीत को वर्तमान की तरह देखना आदि कवि–व्यापार कल्पना के द्वारा ही संभव हो पाते हैं. कल्पना भावों को उत्तेजित तथा विचारों को प्रेरित करती है.

जिस प्रकार भाव की अनुभूति आनन्दमयी है उसी प्रकार कल्पना की झलक भी मधुर और सौंदर्यमयी है.

विचार–तत्त्व

औचित्य काव्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग है. आचार्य क्षेमेन्द्र ने तो इसे ही काव्य की आत्मा माना है. भाव, कल्पना आदि के संयोजन तथा शब्द के औचित्यपूर्ण प्रयोग में बुद्धि तत्त्व कार्य करता है. औचित्य के अभाव में प्रभाव और विश्वसनीयता समाप्त या क्षीण हो जाती हैं. औचित्व का निर्वहण बुद्धि–तत्त्व के द्वारा होता है. विचार या बुद्धि–तत्त्व से रहित वर्णन हास्यास्पद हो सकता है.

भाव : शैली

उपर्युक्त पाँचों तत्त्वों से काव्य–पुरुष का निर्माण होता है. इनमें से शब्द से उसका शैली–पक्ष तथा भाव, कल्पना और विचार से भाव–पक्ष बनता है. अर्थ उभयपक्षी है.

ऋग्वेदकालीन कवि अन्वेषक था. बाद में उसने काव्य के कलात्मक जगत् में प्रवेश किया. उसके इस कलात्मक प्रयोग ने समाज को दैन्य अवस्था में साहस, श्रान्ति में विश्राम तथा उत्कर्ष में आनन्द का अनुभव कराया तथा उद्‌बोधन दिया. कवि के इस कलात्मक जीवन के दो पक्ष रहे – अनुभूति–पक्ष और अभिव्यक्ति–पक्ष या भाव–पक्ष और शैली–पक्ष.

काव्य में भाव प्रमुख है या शैली–इस विषय पर आचार्यों में मतभेद रहा है. इनमें से एक दल है आत्मावादी

आलोचकों का जिसमें आनन्दवर्धन, विश्वनाथ, भरतमुनि आदि आते हैं. ये ध्वनि या रस को काव्य की आत्मा मानते हैं. इनके अनुसार भाव सुन्दर होने चाहिए, शैली चाहे कैसी भी हो. भाव यदि अनूठा हो तो शैली स्वयं उसकी अनुचरी बन जाती है. अनेक प्राचीन तथा अर्वाचीन कवियों ने भी भाव की महत्ता का प्रतिपादन किया है.

आलोचकों का दूसरा दल जो देहवादी कहलाता है, शैली–पक्ष की प्रमुखता का पक्षधर है. इनमें प्रमुख हैं भामह, दंडी, वामन आदि. इनके अनुसार शैली ही काव्य में सुन्दरता का आधान करती है. इसके अभाव में काव्य कोरा वक्तव्य बनकर रह जाएगा. शैली ही सहृदयों को ऐसे नूतन और असाधारण लोकों की सैर कराती है जिनका वर्णन शब्दों के भी बूते के बाहर है.

इन अतिवादी विचारकों के अतिरिक्त एक उदारवादी दल भी है जिसमें क्षेमेन्द्र प्रमुख हैं. इनके अनुसार औचित्य ही काव्य का प्रमुख तत्त्व है. यह औचित्य भाव तथा शैली के समुचित संयोजन में होता है.

पाश्चात्य आलोचना में भी इसी प्रकार अतिवादी आलोचकों ने काव्य में भाव–पक्ष तथा शैली–पक्ष की प्रमुखता के विषय में दलीलें दी हैं. वहाँ भी दोनों के सम्यक् संयोजन को ही अन्तिम मान्यता मिली.

जैसे जीवित व्यक्ति के लिए देह और आत्मा दोनों आवश्यक हैं तथा अपने–अपने स्थान पर दोनों का महत्त्व है उसी प्रकार काव्य–पुरुष के लिए भी भाव तथा शैली दोनों का महत्त्व है. वस्तुतः भाव–पक्ष और शैली–पक्ष हमारी सुपरिचित कथा के अंधे और लँगड़े की तरह हैं जिन्हें सही राह और गतिशीलता परस्पर सहयोग से ही प्राप्त होती है. काव्य में भाव की प्रमुखता का अर्थ शैली

का निरादर नहीं.

कवि कोई अंतरिक्ष से आया प्राणी या गुहावासी नहीं है. वह इसी लोक का निवासी है. जगत के घटना–क्रम, समस्याओं, स्थितियों से वह अप्रभावित नही रह सकता. हाँ, उसकी प्रतिक्रिया की विधि अवश्य अलग है. जगत की दृश्य–अदृश्य स्थितियों, वस्तुओं और व्यापारों के प्रति कवि की प्रतिक्रियाओं का निरूपण हम आगे करेंगे.

काव्य–विषयक चिन्तन

गुलाबजी का भाव–लोक अत्यन्त गंभीर, विस्तृत तथा विशाल है. जीवन का कौन–सा ऐसा भाव या पक्ष है जिस पर उनकी दृष्टि नहीं गयी? कविगण प्रायः किसी एक मूल भाव को ही विभिन्न कोणों से प्रकाशित करते रहते हैं. गुलाबजी का मूल भाव प्रेम है जो कि छायावाद की भी विशेषता रहा है. प्रेम की धुरी पर घूमती हुई उनकी कविता पूरे सौर्य मण्डल के चक्कर काट आयी है. इस यात्रा में परस्पर विरोधी विभिन्न भावों और विचारों की छटा से वे पाठक को मुग्ध कर देते हैं. यहाँ प्रेम है तो वैराग्य भी; दर्शन है तो भक्ति भी; नवीन का उत्साह है तो प्राचीन का आग्रह भी; उन्मुक्त उड़ान है तो धरती से लगाव भी.

कविता कवि के अहं का विसर्जन, उसके व्यक्तित्व की अभिव्यंजना होती है. गुलाबजी के व्यक्तित्व की तरह उनका भाव–संसार भी बहुआयामी है. देखना है कि कविता के विषय में स्वयं कवि क्या कहते हैं.

कविता

कविता कवि की आत्मा होती है, आत्मीया होती है, प्रिया होती है. आदिकवि के प्रथम श्लोक से इसकी रचना एक पहेली बनी हुई है जिसे कालान्तर में सभी आचार्यों तथा कवियों ने हल करने का प्रयास किया है.

प्रश्न यह है कि कवि कविता क्यों लिखता है? काव्य का मूल प्रेरणा–स्रोत तथा प्रयोजन क्या है? वस्तुतः

इन दोनों की स्थिति पूर्वापर है. प्रेरणा कवि को काव्य-सृजन में प्रवृत्त करती है जबकि प्रयोजन इस सृजन का उद्देश्य है.

आदिकवि वाल्मीकि को क्रौञ्च-वध से प्रेरणा मिली थी. कालिदास का मेघदूत स्वयं कवि का प्रिया-विरह माना जाता है. विद्यापति ने गीतों की रचना राजा शिवसिंह तथा रानी लखिमा देवी की प्रेरणा से की थी. भक्त कवियों का प्रेरणा-स्रोत इनके इष्ट देव का स्वरूप तथा चरित्र था तो कबीर, जायसी और मीरा के काव्य का उद्गम इनकी 'प्रेम की पीर' में था. सूरदास को वल्लभाचार्य के निर्देश से प्रेरणा मिली. भारतेन्दु-युग में राष्ट्र की दुर्दशा प्रेरक बनी थी तो द्विवेदी-युग में समाज-सुधार और राष्ट्रोत्थान की लहर ने प्रेरणा का कार्य किया था. इस काल के महर्षि दयानन्द, रवीन्द्र, गाँधी आदि महापुरुषों ने भी जाने-अनजाने प्रेरक का कार्य किया है. छायावाद की प्रेरणा रहे प्रकृति-सौंदर्य तथा लौकिक-अलौकिक प्रेम.

सुकरात ने दैवी प्रेरणा को काव्य की प्रेरणा माना है. उनका विचार है कि जब ईश्वर जगत के मनुष्यों से बातचीत करना चाहता है तो वह कवियों की वाणी के माध्यम से अपने आपको व्यक्त करता है. उनके शिष्य प्लेटो तथा प्रशिष्य अरस्तु ने अनुकरण की प्रवत्ति को काव्य की प्रेरणा का आधार बताया है.

मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने अतृप्त काम-वासना को काव्य-प्रेरणा माना तो एडलर ने हीनता की भावना को. युंग ने मानव की संपूर्ण क्रियाओं का उद्देश्य 'अस्तित्व-रक्षा' माना है.

प्रसिद्ध दार्शनिक हीगेल ने प्रेम और आत्माभिव्यक्ति की प्रवृत्ति को काव्य-रचना का मूल कारण बताया है. क्रोचे

भी आत्माभिव्यक्ति को ही काव्य-प्रेरणा मानते हैं. कवीन्द्र रवीन्द्र भी इसी मत के समर्थक हैं.

"हमारे मन के भाव की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अनेक हृदयों में अपने को अनुभूत करना चाहता है."

(रवीन्द्रनाथ के निबन्ध, साहित्य की सामग्री, पृ.२५६)

"हृदय का जगत् अपने को व्यक्त करने केलिए व्याकुल रहता है, इसीसे चिरकाल से मनुष्य में साहित्य का आवेग मिलता है."

(रवीन्द्रनाथ के निबन्ध, साहित्य का तात्पर्य, पृ.२५२)

विभिन्न आचार्यों ने आत्माभिव्यंजना, अनुभूति और आत्म-विस्तार को काव्य का प्रेरक माना है.

इस प्रकार यों तो स्थूल रूप से काव्य-प्रेरणा के असंख्य रूप ढूँढे जा सकते हैं किन्तु कवि की अपनी अनुभूति, भाव या विचार ही अन्ततः प्रेरक का कार्य करते हैं. भावानुभूति ही अभिव्यक्ति की प्रेरणा देकर कविता को जन्म देती है.

गुलाबजी भी आत्माभिव्यक्ति को ही काव्य-प्रेरणा के रूप में स्वीकार करते हैं. यह कवि के लिए उतनी ही स्वाभाविक है जैसे कोयल के लिए कूकना. उनके अनुसार कविता शब्दों में फँसे अन्तर्मन के भाव हैं. काव्य में कवि और सहृदय दोनों की छवि दिखायी देने के कारण कविता केवल कवि की ही नहीं, सहृदय की भी आत्माभिव्यक्ति होती है.

कविता का महत्त्व पूर्वी और पश्चिमी सभी देशों में समान रूप से स्वीकारा गया है. पूर्व में अग्निपुराण कवि को ब्रह्मा के समकक्ष सम्मान देता है.

"अपारे खलु संसारे कविरेकः प्रजापतिः

यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते" (अग्निपुराण)

पश्चिम में शेक्सपीयर भी कवि को नूतन सृष्टि का रचयिता घोषित करते हैं.

"The poet's eye, in a fine frenzy rolling,
Doth glance from heaven to earth,
from earth to heaven;
And as imagination bodies forth
The forms of things unknown,
the poet's pen
Turns them to shapes
and gives to airy nothing
A local habitation and a name."
('Mid Summer Night's Dream', Act 4)

कविता में भावों को आन्दोलित करने की अद्‌भुत् शक्ति होती है. आधुनिक युग में बौद्धिकता के विकास के साथ-साथ मानव-जीवन में रागात्मक तत्त्वों का ह्रास होता जा रहा है. अतः कुछ विद्वान ऐसा मानते हैं कि कविता का महत्त्व तथा उसकी उपादेयता भी न्यून होती जा रही है. पर ध्यान से देखा जाय तो बौद्धिक शुष्कता से पीड़ित मानवता को काव्य की सरसता अपेक्षतः अधिक काम्य होगी. आचार्य शुक्ल के अनुसार,

"ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती जायेगी त्यों-त्यों कवियों केलिए काम बढ़ता जाएगा. मनुष्य की हृदय की वृत्तियों से सीधा सबन्ध रखने-वाले रूपों और व्यापारों को प्रत्यक्ष करने के लिए उसे बहुत से पर्दों को हटाना पड़ेगा. इससे यह स्पष्ट है कि ज्यों-ज्यों हमारी वृत्तियों पर सभ्यता के नये-नये आवरण चढ़ते जायेंगे त्यों-त्यों एक ओर तो कविता की आवश्यकता बढ़ती जायेगी, दूसरी ओर कवि-कर्म कठिन होता जाएगा."

(कविता क्या है, निबन्धमाला, पृ. ६६)

द्विवेदीजी के अनुसार भी कविता की उपादेयता मनुष्य जाति का हित करने में है. "जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गतिहीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उसके हृदय को परदुःखकातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है."

(कविता क्या है, निबन्धमाला, पृ. ६६)

गुलाबजी के अनुसार कविता जीवन से पलायन करना नहीं, उसे स्वीकार करना और झेलना सिखाती है. वह जीवन को आशावादी बनाने में सहायक होती है. वह जीवन के अभाव को भाव से भरनेवाली, असफलता में भी सफलता की अनुभूति करानेवाली तथा जग को जीवन की सार्थकता का बोध करानेवाली होती है.

सत्यं, शिवं और सुन्दरं से युक्त काव्य की रचना ही कवि की ईशोपासना है. कविता की आवश्यक शर्त ईमानदारी है. यहाँ हृदय की पुकार ही हृदय तक पहुँचती है. यदि किसी भाव की अनुभूति स्वयं कवि ने नहीं की हो तो पाठक को भी उसकी अनुभूति नहीं हो सकती.

"शब्द वही महान है
जिसकी जड़ों में हृदय का रक्त हिलोरें लेता है
लिखने के पहले कविता को जीना होता है
हमारा बलिदान ही
हमारे कृतित्व को प्रामाणिकता देता है."

(ग्रं. २, पृ. १५९)

यह उसी प्रकार है जैसे पतंग को जलाने के लिए दीपक को पहले स्वयं जलना पड़ता है.

हृदय-तत्त्व को कवि इतना महत्त्व देते हैं कि उनके अनुसार हृदय से निकली सीधी सच्ची बात महाकवियों के गीतों से भी अधिक प्रभावशालिनी होती है. कवि के लिए

हृदय की साक्षी आवश्यक है. वह झूठ नहीं कह सकता.

कवित्व–प्रतिभा को वे ईश्वरीय कृपा तथा सरस्वती का वरदान मानते हैं किन्तु लोक–मंगलकारी काव्य का श्रेय कवियों को देते हैं. मनुष्य को उपकरण मात्र मिले हैं किन्तु कला का सृजन उसकी अपनी चातुरी, अपना योगदान है. जैसे ईश्वर की इच्छा से हवा है, पत्ता है, किन्तु डोलना, न डोलना उसकी अपनी इच्छा है.

कविता का आदर्श है कि वह सहृदय के लिए सरस तथा समीक्षक के लिए सारगर्भ हो. श्रेष्ठ कविता का असली मूल्यांकन समय की कसौटी पर ही होता है. रसमयी कविता काल–निरपेक्ष होती है.

"मरे न कविता रसमयी, मरे न सत्य विचार"

(ग्रं. ३, पृ. ७४)

कविता कवि के अंतःकरण का रेखाचित्र, उसके मानस–संसार की अभिव्यक्ति, निज की पुनरावृत्ति है. पर कोई भी कविता कवि के संपूर्ण भावों को यथावत् व्यक्त करने में समर्थ नहीं होती. उसकी तुलना हम बिहारी कवि की उस नायिका से कर सकते हैं जिसका चित्र उसके नित–नवीन सौंदर्य के कारण कभी ठीक से बन ही नहीं पाता है.

सुकरात के शिष्य प्लेटो के अनुसार यह समस्त स्थूल जगत किसी अलौकिक सूक्ष्म जगत की प्रतिच्छवि मात्र है. कविता इसी स्थूल.जगत की अनुकृति है. प्लेटो के शिष्य अरस्तु ने भी कविता का मूल रूप अनुकृति को ही माना है. उनके अनुसार कविता छन्दोबद्ध अनुकृति है. प्लेटो इस अनुकृति को मिथ्या कहकर हेय दृष्टि से देखते हैं किन्तु अरस्तु के अनुसार शोकजनक तथ्य भी कलागत रूप धारण करके आनन्ददायी हो जाते हैं.

गुलाबजी के अनुसार भी कविता प्रकृति की अनुकृति है.

"मूर्ख! न समझा भेद, प्रकृति
कविता है कवियों के कवि की
जग की सर्वश्रेष्ठ कविता भी
अनुकृति भर है जिस छवि की"
(ग्रं. ३, पृ. २५)

कविता : मर्मवेदना

कविता का जन्म वेदना के सागर से होता है. हृदय की हूक ही कूक में परिवर्तित होती है. कवि के हृदय में उद्वेलित होने वाले भाव ही शब्दों का रूप धारण करके, कविता बनके फूट निकलते हैं. क्रौञ्च–वध के पश्चात् क्रौञ्ची के करुण विलाप को सुनकर वाल्मीकि के मुख से निकले प्रथम उद्‌गार ही रसमयी कविता के प्रथम प्रतीक हैं.

"काव्यस्यात्मा स एवार्थः तथा चादिकवेः पुरा
क्रौञ्चद्वन्द्व वियोगत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः"
(ध्वन्यालोक, १, १८,– आनन्दवर्धन)

आंग्ल कवि शेली ने भी हमारे मधुरतम गीतों का उद्‌गम गहन दुःख को बताया है.

"we look before and after
and pine for what is not
our sweetest songs are those
that tell of saddest thought"
(Shelly, To the skylark)

कवि कविता के छल से व्यथा को ही मुखरित करता है.

"मर–मरकर जीना यही कवि की नियति है
कला आत्मदाह के क्षणों की परिणति है

व्यथा की सजलता से पावन हुई है कथा
मेरी पराजय ही मेरी सबसे बड़ी कृति है"
(ग्रं. ३, पृ. ३७५)

उर्दू का तो पूरे काव्य का महल ही इस दर्द की नींव पर टिका है. संयोग श्रृंगार की अपेक्षा विप्रयोग की महत्ता तथा भवभूति के 'एकोरसः करुणेव' के पीछे भी यही धारणा काम कर रही है. सच्चा दर्द ही कविता को चिरंजीवी बनाता है.

"वेदना–सिन्धु के बीच पली
नयनों से मोती बन निकली
पाने वह मृदु मुक्ता अवली
दौड़ी दुनिया बन दीवानी"
(ग्रं. १, भाग १, पृ. ६६)

काव्य के उपकरण

यों तो कवि ने काव्य के तत्त्वों के विषय में अपने विचार यत्र–तत्र व्यक्त किये हैं किन्तु लगभग सभी तत्त्वों का एकत्र निरूपण निम्नलिखित कविता में द्रष्टव्य है.

"कविता में लय की मधुमयता रहे थोड़ी–थोड़ी
किन्तु वह सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती जाय
शब्द ज्यों–ज्यों गहन गुफाओं में प्रवेश करें
त्यों–त्यों काव्य–भाषा पहिचान निज खोती जाय
चरण–चरण खिले मनहरण स्वरों के फूल
जैसे कोई नर्तकी अदृश्य में पिरोती जाय
भौंहें संकेत करें, भाव शत रूप धरें
ओठ मुस्कुराते रहें और आँख रोती जाय"
(ग्रं. २, पृ. ४६)

यहाँ कविता की परिभाषा काव्यात्मक भाषा में ही

दी गयी है अतः इसे कविता की तरह ही समझना पड़ेगा.

लय

यहाँ लय का अर्थ काव्य-लय या छन्द है. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार, "नाद-सौंदर्य का योग भी कविता का पूर्ण स्वरूप खड़ा करने के लिए कुछ-न-कुछ आवश्यक होता है. हम इसे बिल्कुल हटा नहीं सकते. जो अन्त्यनुप्रास को फालतू समझते हैं, वे छन्द को पकड़े रहते हैं, जो छन्द को भी फालतू समझते हैं, वे लय में ही लीन होने का प्रयास करते हैं."

(रस-मीमांसा, पृ. ४७)

कवि के अनुसार भी कविता में छन्द आवश्यक नहीं हैं. आधुनिक कविता ने भी छन्द से मुक्ति का नारा लगाया है. किन्तु छन्द के न रहने पर भी कविता में एक लय होती है. यह लय कविता को गद्य से पृथक् करती है. यह उसे एक तरह की मधुमयता देती है किन्तु परम्परागत छन्दों की तरह उसे कसती नहीं. गुलाबजी को कविता में इस लय की मधुमयता से विरोध नहीं है. नाटकों आदि में नेपथ्य संगीत की तरह यह भावों की प्रभाववृद्धि में सहायक तो है किन्तु इसका प्रयोग सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते जाना चाहिए. अर्थात् यह चाहे अत्यन्त सूक्ष्म रूप से ही हो पर रहे अवश्य.

अलंकार

कविता में शब्द या भाषा की अपनी अलग सत्ता और अनिवार्यता होती है. भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा ही है. अवचेतन की गहन गुफाओं में से भावों और विचारों को ढूँढ लाने और मूर्त करने का कार्य भाषा ही करती है. इस प्रस्तुतीकरण के साथ भाषा का कार्य समाप्त

हो जाता है. उसे भाव और सहृदय के बीच कोई व्यवधान नहीं खड़ा करना चाहिए. भाषा के अलंकारादि सौंदर्यवर्धक तत्त्व भी यदि व्यवधान के कारण बनते हों तो अनावश्यक हैं. अर्थात् काव्य–भाषा को भाव की अनुगामिनी होना चाहिए.

आकर्षण

किसी नर्तकी के संकेतों द्वारा व्यक्त नृत्य के भावों की तरह कविता में भाषा आदि का अप्रत्यक्ष प्रभाव तो हो पर सायास प्रस्तुति नहीं. नर्तकी के नर्तित चरणों की नूपुर–ध्वनि तथा गायन के स्वर एक रहस्यमय आकर्षण की सृष्टि करते हैं. गुलाबजी को काव्य में भी यही आकर्षण–तत्त्व अभिप्रेत है. स्वरों के फूल से यहाँ उनके रंग या स्थूल रूप से नहीं वरन् सुगन्ध अर्थात् सूक्ष्म तत्त्व से तात्पर्य है. 'मनहरण' शब्द कविता की मन को हर लेनेवाली अर्थात् आकर्षण–शक्ति का द्योतक है.

ध्वनि

आचार्यों ने काव्य की तीन कोटियाँ मानी हैं.

१. चित्र–काव्य (अधम काव्य)

२. गुणीभूत काव्य (मध्यम काव्य)

३. ध्वनि काव्य (उत्तम काव्य)

इनमें से प्रथम प्रकार में अभिधा, द्वितीय में लक्षणा और तृतीय में व्यंजना प्रधान होती है. ध्वनि के इतने महत्त्व के कारण आचार्य आनन्दवर्धन ने तो इसे काव्य की आत्मा तक माना था.

"काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः ससाम्नातपूर्वः"

(ध्वन्यालोक)

"भोंहों के संकेत" का तात्पर्य है कि यहाँ अधर मौन हैं तथा कथन भोंहों के द्वारा अर्थात् संकेत में हो रहा है. यह 'संकेत' व्यंग्यार्थ की प्रधानता को सूचित करता है और काव्य में ध्वनि के महत्त्व को प्रतिपादित करता है. सच्चा और उत्कृष्ट काव्य कभी बोलता नहीं केवल संकेत करता है.

भाव

कविता का प्रमुख भाव स्थायी भाव होता है तथा अन्य भाव जो आ कर उसे पुष्ट करते हैं, संचरणशील प्रवृत्ति के होने के कारण संचारी भाव तथा बीच में आने–जाने के कारण व्यभिचारी भाव कहलाते हैं.

भावों के शत रूप धरने का अर्थ यहाँ भावों की सघनता है. जैसे आकाश में मेघ शत रूप धरते, उमड़ते रहते हैं वैसे ही कविता का आकाश भी भावों के मेघ से आच्छन्न होना चाहिए.

आनन्द

काव्य सर्जक और पाठक दोनों को लोकोत्तर आनन्द प्रदान करता है. यह आनन्द सुख–दुःख से ऊपर की अवस्था है, सुख का अतिरेक नहीं. काव्य के आनन्द को 'ब्रह्मानन्द–सहोदर' कहा गया है.

रस

भरत मुनि ने काव्य की आत्मा रस को माना है. काव्य का यह रस परमात्मा की अनुभूति की तरह ही है– "रसोवै सः"(वह रस ही है)

पूर्ण रस–परिपाक होने से पाठक या सहृदय जिस

आनन्द का अनुभव करता है उसकी व्यंजना उसकी रोती हुई आँखें और मुस्कुराते हुए ओठ करते हैं. उसकी वही स्थिति होती है जो एक भक्त की भगवद्साक्षात्कार पर होती है.

कविता के अन्तिम चरण की अन्विति इस प्रकार भी हो सकती है कि कविता जब पीड़ा को उदात्त रूप देकर सहृदय तक पहुँचाती है तो वह अनुभूति दुःख की नहीं रहती. वह आनन्दानुभूति में परिणत हो जाती है. पर यह अर्थ अन्य बातों से मेल नहीं खाता अतः यही अर्थ सटीक है कि काव्य में रस की गुंजाइश होनी चाहिए. यहाँ हमें आचार्य शुक्ल का यह कथन याद आता है.

"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रस–दशा कहलाती है. हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो विधान करती आयी है, उसे कविता कहते हैं. इस साधना को हम भावयोग कहते हैं और कर्मयोग और ज्ञानयोग के समकक्ष मानते हैं."

(रस–मीमांसा, पृ. १)

कविता में आकर्षण–शक्ति होती है. रस इसी आकर्षण की व्यापक तथा गंभीर अनुभूति है. अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि इसकी उद्दीप्ति के विभिन्न साधन हैं. जिन तत्त्वों के परस्पर संपर्क और सहयोग से यह आकर्षण उद्दीप्त या निर्मित होता है, वे हैं–

१. भाव

२. विचार

३. कल्पना

सभी रचनाओं में इनकी मात्रा समान रूप से नहीं रहती. कहीं भाव, कहीं विचार तथा कहीं कल्पना का

प्रामुख्य रहता है और शेष दो गौण रूप से कार्य करते हैं. इन तत्त्वों की प्रधानता के आधार पर कवि की भाषा में भी अन्तर आता है. विचार की प्रमुखता से भाषा अभिधात्मक, भाव की प्रमुखता से लक्षणात्मक तथा कल्पना की प्रमुखता से व्यंग्यात्मक हो जाती है.

इस भेद के कारण काव्य की आकर्षण–शक्ति भी तीन प्रकार की हो जाती है.

१. भावात्मक आकर्षण

२. बौद्धिक आकर्षण

३. कल्पनात्मक आकर्षण

आकर्षण–शक्ति के कारण ही कवि तथा पाठक की विषय–वस्तु में रुचि उत्पन्न होती है.

गुलाबजी के अनुसार कविता में यथार्थ और कल्पना का सानुपातिक मिश्रण होता है. किसी भी कला का आधार तो यथार्थ ही होता है किन्तु कल्पना का पुट ही उसे कला का दर्जा देता है. आकाश में बिखरे तारे यथार्थ हैं किन्तु उन्हें चुनरी में उतारना कला है. हृदय की निर्मल भावना का रंग कुछ और उभारने के लिए कल्पना के केसर की आवश्यकता होती है.

"उड़ती हुई गुलाब की कुछ पँखुरियों को
मैंने बटोर लिया है
यों तो वे पहले से ही काफी रंगीन थीं
पर उन पर थोड़ा सा
कल्पना का कुंकुम और छिड़क दिया है."
(ग्रं. २, पृ. २२०)

कवि के लिए कष्ट और अभाव सहन करना तथा सपनों में जीना – दोनों आवश्यक हैं. कवि का यथार्थ भोगा हुआ यथार्थ होना चाहिए. इसके लिए जनजीवन की

समीपता अवश्यक है.

"जो सपनों में नहीं जीता है,
जिसका जीवन कष्ट और अभावों में नहीं बीता है
वह और कुछ भी हो जाय,
कवि नहीं हो सकता;"
(ग्रं. २, पृ. २४२)

कवि भाषा की तुलना में भाव की प्रमुखता स्वीकार करते हैं. भाषा केवल भाव की अभिव्यक्ति का माध्यम है. उसे भाव की अनुगामिनी होना चाहिए. भाषा कितनी भी श्रेष्ठ क्यों न हो, भाव का महत्त्व सदा उससे अधिक रहेगा.

"भाषा में क्या रखा है
कागज पर मन के भाव उतारिए
उनकी आँखों से प्यार झलक पड़ेगा
चाहे जिस भाषा में पुकारिए"
(ग्रं. २, पृ. २३३)

भाव के लिए प्रमुख शर्त है उनका 'मन के भाव' होना. काव्य-रचना के लिए गहन अनुभूति की मार्मिकता अनिवार्य है. संवेदना का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कवि कहते हैं,

"वह दूसरों को कैसे छूएगा
जिस पावक ने आपको ही नहीं छुआ है
दूसरों में वह कैसे घटित होगा
जो स्वयं आपमें ही घटित नहीं हुआ है"
(ग्रं. २, पृ. १५४)

"साज नहीं सजता है
जब तक उसे बजानेवाला आप नहीं बजता है"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. १८५)

कविता में भाव का साम्राज्य होता है. भाव और

बौद्धिकता में स्वाभाविक बैर है. बोझिल बौद्धिकता के प्रवेश के साथ भावना लुप्त हो जाती है.

"द्वार पर ज्ञान ने धरे जो पाँव
खोल खिड़की निकल गया यौवन"
(ग्रं. ३, पृ. १०६)

यों कवि काव्य में विचारों के महत्त्व को भी स्वीकार करते हैं. वस्तुतः काव्य सहृदय के लिए सरस तथा समीक्षक के लिए सारगर्भ होना चाहिए.

शब्द

आचार्य भामह ने "शब्दार्थौ सहितौ काव्यः" कहकर काव्य का लक्षण दिया. भामह के अनन्तर वामन, रूद्रट, मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ आदि अनेक मान्य आचार्यों ने काव्य को शब्द और अर्थ का सम्मिलित रूप माना है. शब्द और अर्थ के इस सहित भाव से ही कालान्तर में साहित्य शब्द का प्रादुर्भाव हुआ जिसे सर्वप्रथम राजशेखर ने प्रयुक्त किया.

शब्द की प्रशंसा मे श्रुति कहती है,

"चत्वारि श्रृंगास्त्रयोऽस्य पादा
द्वै शीर्षे सप्तहस्तासोऽस्य
त्रिधा बद्धो वृषभरोरवीति
महो देवो मर्त्याम् आविवेश"
(ऋग्वेद, ३/८/१०/३)

इस मंत्र के कई अर्थ किये गये हैं. कहीं इसे सूर्य की स्तुति माना गया है (कुमारिलकृत तंत्रवार्तिक, १/२/४६) तो कहीं यज्ञ–अग्नि की (सायणाचार्य). पतंजलि के महाभाष्य (पस्पशाल्हिक) तथा भरत के नाट्यशास्त्र के अनुसार इस मंत्र में शब्द–ब्रह्म–रूपी ब्रह्म का वर्णन है.

चत्वारिश्रृंगा = चारों तरह के शब्द – नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात (उद्योग के मत से परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी)
त्रयोऽस्यपादा = तीन काल – भूत, भविष्य और वर्तमान
द्वै शीर्षे = दो शीश अर्थात् दो तरह के शब्द – नित्य तथा अनित्य अर्थात् व्यंग्य और व्यंजक
सप्तहस्ता = सात हाथ – सात विभक्तियाँ
त्रिधाबद्धः = हृदय, कंठ और मूर्धा – तीन स्थानों में बद्ध
वृषभः = वर्षण करनेवाला
रोरवीति = शब्द करता है
महो देवः = बड़ा देव – शब्द–ब्रह्म
मर्त्यान् आविवेश = मनुष्यों में प्रवेश किया

श्रीमद्भागवत के अनुसार शब्द ही वह गरुड़ है जिसपर सवार होकर स्वयं भगवान आते हैं. इस शब्द–गरुड़ के पंखों से साम–गान गूँजता है.

भाषा का आधार शब्द–शक्ति है. गुलाबजी शब्दों या भाषा की उपयोगिता तथा महत्त्व को स्वीकार करते हैं. उनके अनुसार हर घटना के साक्षी शब्द ही होते हैं. ज्ञान का प्राकट्य भी शब्दों से ही होता है. कवि के लिए शब्द परमार्थ–साधक हैं. इन्हीं की सहायता से वह अमूर्त कविता को मूर्त रूप में प्रस्तुत करता है.

सुन्दर शब्द–योजना सुन्दर फूल की तरह सहृदय–रूपी भ्रमर को भावरूपी रसपान के लिए आकर्षित करती है. अनुभूति को अमरत्व भी शब्दों में बँधकर ही मिलता है.

"आँसू की जो बूँद धरती पर जा गिरी
वह पानी बन कर बह गयी
जो शब्दों की सीपी में पहुँच सकी

केवल वही मोती है"

(ग्रं. २, पृ. १११)

किन्तु कविता केवल सुन्दर शब्दों की सजावट नहीं, शब्दातीत अर्थ की व्यंजक भी है. अतः शब्द जो प्रेषक का काम करते हैं, कभी-कभी दीवार की तरह बाधा भी बन जाते हैं. भावावेग के समय बहुधा शब्द अशक्त हो जाते हैं. कवि शब्दों का पारखी होता है. वह चुन-चुनकर उनका उपयोग करता है किन्तु कई बार उसे लगता है कि शब्दों में उसके भाव-वर्णन की सामर्थ्य नहीं है या कम है.

"मुझे शब्द नहीं मिलते हैं,
यह व्यथा तुम्हें कैसे समझाऊँ!
वे फूल कहाँ हैं जिनसे
तुम्हारे लिए माला गूँथकर लाऊँ!
कोई भी कविता ऐसी नहीं है
जो व्यक्त कर सके यह अभिलाषा
मेरी आँखों में बैठकर
पढ़ लो मेरे मन की भाषा!"

(ग्रं. २, पृ. १०५)

"शब्दों से परे जहाँ एक और अर्थ है
व्यक्त जिसे करने में वाणी असमर्थ है
उँगली धर मौन की वहीं पर आ गया हूँ मैं
छिपने का आपका प्रयत्न और व्यर्थ है"

(ग्रं. ३, पृ. ३७५)

छंद

छंद शब्द का अर्थ होता है 'आच्छद' अर्थात् वह वेष जिसमें काव्य-वस्तु का प्राकट्य होता है. श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अनुसार छंद रसानुभूति में सहायक होता है.

"काव्य रचना एक विस्मयजनक व्यापार है. उसका विषय कवि के मन से बँधा होता है. लेकिन काव्य का लक्ष्य होता है विषय से आगे बढ़ जाना, यह विषय से अधिक जो अंश है वही अनिर्वचनीय है. छंद की गति बात के बीच से उसी अनिर्वचनीय को जगा देती है."

(रवीन्द्रनाथ के निबन्ध, छंद का अर्थ, पृ. २५०)

काव्य का यह अनिर्वचनीय तत्त्व रस है. कवीन्द्र छंद को कविता का आवश्यक तथा उपयोगी तत्त्व मानते हैं.

"हमारा चित्त वेगवान है लेकिन कथ्य स्थिर है . . . कथ्य को वेग देकर हमारे चित्त की सामग्री बना देने के लिए छंद की जरूरत है. यही नहीं कि इस छंद के वाहन पर चढ़कर बात तेजी से हमारे चित्त में प्रवेश करती है, उसके स्पंदन में वह अपना स्पंदन भी मिला देती है."

(रवीन्द्रनाथ के निबन्ध, छंद का अर्थ, पृ. २४९)

छंद का महत्त्व इससे स्पष्ट हो जाता है कि एक छंद में कही गयी बात दूसरे छंद में कहने से अपना प्रभाव खो देती है.

"इसी बात को दूसरे किसी छंद में कहने से विषय तो ठीक ही रहेगा लेकिन विषय से अधिक जो है वह कुछ का कुछ हो जाएगा."

(रवीन्द्रनाथ के निबन्ध, छंद का अर्थ, पृ. २५०)

छंद अपने आप में बंधन नहीं हैं किन्तु पाँव की थिरकन को भाषा देनेवाले नूपुर यदि नृत्य की गति को अवरुद्ध करने लग जाये तो उनसे छुटकारा पाने की इच्छा होना स्वाभाविक है. कविता यदि भावानुरूप छंद में स्वयमेव ढलती जाती है तो उसमें स्वाभाविकता रहती है. विरोध तो थोपे गये नियमन से होता है. जो छंद रसानुभूति में साधक था वही जब बाधक बनने लगा तो कवियों को उससे घुटन

होने लगी. उन्होंने उससे मुक्ति का नारा दिया और घोषित किया,

"खुल गये छन्द के बन्ध,
प्रास के रजत पाश" – पंत

गुलाबजी कविता के लिए छंद–विधान को अनिवार्य नहीं मानते. उनके अनुसार छन्द यद्यपि कविता के सौंदर्य को बढ़ाने में सहायक होते हैं, पर सच्ची कविता कभी छंदों का मुँह नहीं ताकती. उत्कृष्ट कविता सशक्त तथा अपने आप में परिपूर्ण होती है. यदि छंद कविता पर भारस्वरूप लगें तो उनका परित्याग करना उचित है.

छंदमुक्त कविता में भी एक आंतरिक लय होती है, एक प्रवाह होता है. अंतर केवल इतना है कि कविता छंद के परंपरागत घेरे से बाहर आयी है किन्तु अब उसका घेरा और विस्तृत हो गया है. अब छंद एक अंतःस्फूर्त शैली है.

"नये विचार को रुचता न पुराना बाना
हर नया काव्य नये छंद लिए आता है"
(ग्रं. ३, पृ. १०५)

यहाँ कवि का तात्पर्य रूढ़ अर्थ में छंद नहीं बल्कि वर्णन–शैली है. उनके अनुसार हर नयी बात को कहने के लिए नयी शैली की आवश्यकता होती है.

यहाँ कवि द्वारा प्रयुक्त छंद शब्द में शैली–पक्ष अपनी संपूर्णता से विचारित है. अलंकार, गुण, रीति, वृत्ति, ध्वनि, वक्रोक्ति – सब उनकी छंद–धारणा में समाहित है. गुलाबजी की यह छंद–धारणा मौलिक है.

काव्य–कौशल

भाषा, छंद, अलंकार आदि को भाव से कम महत्त्व देने का यह अर्थ नहीं है कि हृदय के भाव को ज्यों का

त्यों उतार देने से ही कविता बन जाती है. कविता एक कला है और हर कला की तरह इसमें भी कुशलता की आवश्यकता होती है. भारतीय आचार्यों ने इस काव्य-कौशल के पीछे तीन कारणभूत तत्त्व माने हैं जिन्हें काव्य-हेतु कहते हैं. वे हैं – शक्ति, निपुणता और अभ्यास.

"शक्तिर्निपुणता लोककाव्य–शास्त्रवेक्षणात्
काव्यज्ञशिक्षाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे"

(मम्मटाचार्य, काव्यप्रकाश, १/३)

१. शक्ति – शक्ति वह प्रतिभा है जो जन्मजात होती है. प्रतिभा का अर्थ वह प्रज्ञा है जो नित्य नवीन वस्तुओं की उद्भावना करती है. इसी के अनुपात से कवि की रचना उत्कृष्ट होती है. अधिकांश साहित्यकार प्रतिभा को पूर्वजन्म के संस्कार मानते हैं.

"प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता"

(भट्टतौत, काव्यानुशासन)

२. व्युत्पत्ति – व्युत्पत्ति ज्ञान को कहते हैं. यह ज्ञान लौकिक तथा शास्त्रीय दो प्रकार का होता है. लोक के ध्यानपूर्वक अवलोकन (निरीक्षण) से लौकिक तथा शास्त्रों के अध्ययन से शास्त्रीय व्युत्पत्ति प्राप्त होती है. अर्थात् व्युत्पत्ति से यह ज्ञान प्राप्त होता है कि कवि क्या कहे तथा कैसे कहे. व्युत्पत्ति को निपुणता भी कहते हैं.

३. अभ्यास – संस्कृत में कहावत है

"दैवानि याति वैफल्यं नाभ्यसस्तु कदाचन"

अर्थात् भाग्य धोखा दे सकता है किन्तु अभ्यास कभी धोखा नहीं देता. काव्य का अभ्यास ऐकान्तिक भी हो सकता है पर यदि किसी काव्यज्ञ के निर्देशन में किया जाय तो अधिक अच्छा होता है. अभ्यास के द्वारा कवि की प्रतिभा और व्युत्पत्ति का अधिकतम सदुपयोग हो सकता है.

अतः अभ्यास भी एक महत्त्वपूर्ण काव्य-हेतु है.

गुलाबजी अभ्यास काव्य-हेतु को आमरण साधना की संज्ञा देते हैं. हृदय सबका एक जैसा होता है. भावना और सुख-दुःख का वास सबके हृदय में होता है. किन्तु हर भावना कविता नहीं बनती.

"हर बूँद आँसुओं की नहीं मोती है
हर आह न बिजली की फसल बोती है
हर रूप पर न प्राण निछावर होते
हर वेदना इतिहास नहीं होती है"
(ग्रं. ३, पृ. १२४)

आह को गान बनने में, दर्द को ग़ज़ल बनकर ढलने में अभिव्यक्ति के माध्यम का बहुत बड़ा योग है. अतः कविता के लिए केवल भाव ही नहीं अभिव्यक्ति के माध्यम की पूरी शिक्षा आवश्यक है.

"हमारे रोने की भी एक लय होती है
गायक यदि कुशल हो तो
हर तान मधुमय होती है"
(ग्रं. २, पृ. ४८)

प्रेषणीयता

आइ. ए. रिचड्र्स् ने 'ए थियोरी ऑफ़ कम्युनिकेशन' में स्थापित किया कि किसी भी काव्य की समीक्षा वैज्ञानिक रूप से और प्रेषणीयता के आधार पर, दोनों प्रकार से की जानी चाहिए. प्रेषणीयता को स्पष्ट करते हुए उन्होंने उसे "मन की एक सामान्य क्रिया मात्र" बताया. उनके अनुसार प्रेषणीयता में जो कुछ होता है वह यह कि कुछ विशेष परिस्थितियों में विभिन्न मस्तिष्क प्रायः एक जैसी अनुभूति प्राप्त करते हैं.

प्रेषणीयता के आधारभूत तथ्यों की विवेचना करते हुए श्री रिचड्र्स् ने इसका श्रेय मूलतः कवि की वर्णन-क्षमता या पाठक की ग्रहण-शक्ति को दिया है. वे मानते हैं कि यद्यपि कला में प्रेषणीयता अत्यन्त आवश्यक है किन्तु कलाकार को इसके लिए विशेष रूप से प्रयत्न नहीं करना चाहिए. उससे कला की स्वाभाविकता नष्ट हो जायगी. उनके अनुसार, "यदि कलाकार तल्लीनता-पूर्वक कला की रचना करता है तो उसमें प्रेषणीयता स्वतः ही आ जायगी."

कलाकार जितना सामान्य रूप से काम करेगा, अपनी अनुभूतियों को ठीक प्रकार से प्रस्तुत करने में वह उतना ही अधिक सफल होगा तथा उतने ही अधिक तदनुकूल भाव पाठकों के मन में उत्पन्न होंगे.

गुलाबजी के अनुसार भी कविता में प्रेषणीयता का बहुत अधिक महत्त्व है. कवि के लिए नाम, यश, विशेषण आदि से भी अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है संप्रेषण. यही संप्रेषण उसकी कविता को सजीव बनाता तथा सहृदय से जोडता है. इसके अभाव में उत्कृष्ट रचना भी व्यर्थ है.

"मुझे न तो बड़ा नाम चाहिए
न ऊँचा विशेषण चाहिये
मुझे तो केवल अपने हृदय का
तुम्हारे हृदय तक संप्रेषण चाहिए."
(ग्रं. २, पृ. १२१)

विषय-वस्तु

जगत के तथा प्रकृति के रूपों के साथ कवि का बड़ा घनिष्ट संबंध होता है. वह अपनी अनुभूतियों को पाठकों के हृदय तक यथावत् पहुँचाने और पाठक को उस भाव से सिक्त तथा आनन्दित करने की सामर्थ्य रखता है.

काव्य में वस्तु प्रमुख है या उससे संबन्धित भाव, इस विषय पर मतभेद मिलते हैं. वर्ण्य वस्तु को प्रमुख माननेवालों की मान्यता है कि वर्ण्य वस्तु की श्रेष्ठता ही रस–परिपाक में प्रधान कार्य करती है. राम जैसे श्रेष्ठ चरित्र पर आधृत काव्य कभी निम्न नहीं हो सकता.

"राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है
कोई कवि बन जाय सहज संभाव्य है"
(साकेत, मैथिलीशरण गुप्त)

पर जिस राम–चरित्र के आधार पर 'राम–चरित–मानस' की रचना हुई उसी वर्ण्य विषय ने केशवदास (रामचन्द्र–चन्द्रिका) या मैथिलीशरण गुप्त (साकेत) को तुलसीदास नहीं बना दिया. तीनों का वर्ण्य एक पर भाव भिन्न थे.

कुछ विषय इतने शक्तिशाली होते हैं कि कवि को विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता किन्तु यदि कवि चाहे तो नगण्य–सी वस्तु पर भी अत्यन्त उच्च कोटि की रचना कर सकता है. जगत की कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जो रस का अंग बनकर आनन्द उत्पन्न न कर सके अन्यथा वीभत्स आदि रसों की अवधारणा ही नहीं होती.

"रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापि नीचं
उग्रं प्रसादि गहनं विकृतं च वस्तु
यद्वाप्यवस्तु कविभावक–भावनीयं
तन्नास्ति यन्न रसभावमुपैति लोके"
(धनंजय, दशरूपक, ४/८५)

अर्थात् संसार में रमणीय या निन्दित, उदार या नीच, उग्र या प्रसन्न, विकट या विकृत ऐसी कोई वस्तु या अवस्तु नहीं होती जो कवि की भावना के सहारे रस–रूप को प्राप्त नहीं करती.

"न तद्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला
ना सौ योगौ न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन यन्न दृश्यते"
(भरत मुनि, नाट्यशास्त्र, १/११७)

काव्य के क्षेत्र में सभी वस्तुएं साधन बन जाती हैं. कवि का संसार बड़ा ही विशाल है. रमणीय वस्तु की तो बात ही क्या, अवस्तु, अरमणीय भी कवि-प्रतिभा के संस्पर्श से रमणीय बन जाती हैं. भामह इसे ही इंगित करके कवि की कला की प्रशंसा करते हैं.

"न स शब्दो न तद्भाव्य न सा विद्या न सा कला
जायते यन्न काव्यांगं अहो भारः महान् कवेः"
(भामह, काव्यालंकार)

गुलाबजी के अनुसार भी वर्ण्य वस्तु का स्थान भाव की अपेक्षा निम्न होता है. बड़े ज्योतिष्पिंड के बदले क्षुद्र रजकण को विषय वस्तु बनाने से कविता में कोई न्यूनता नहीं आती.

"इससे कोई अंतर नहीं पड़ता
कि मैंने किसी बड़े ज्योतिष्पिंड का चित्र
नहीं खींचा है
इससे कोई अंतर नहीं पड़ता
कि मैंने एक क्षुद्र रजकण पर ही
अपना सारा स्नेह उलीचा है"
(ग्रं. २, पृ. १५०-१५१)

सत्यं-शिवं-सुन्दरं

कवि अपने युग का चारण होता है. वह कल्पना के लोक में विचरण करता है किन्तु उसकी डोर यथार्थ से बँधी होती है. जीवन की जटिलताएँ, दुःख-सुख उसे भी घेरते हैं और स्वयं को भाव-जगत का प्राणी कहकर वह उनसे

कन्नी नहीं काट सकता. सजीव कविता में जीवन के स्वर भी झलकने चाहिए. यह काव्य का 'सत्यं" तत्त्व है. लोकगीतों का तो लोक-जीवन से विशेष संबंध होता है.

"मेरे गीतों में नूतन युग पाँखें खोल रहा है
मेरी वाणी में जनता का जीवन बोल रहा है.
मेरे नयनों में भविष्य का मानव डोल रहा है
मेरे कर पर विश्व विहग-सा कर कल्लोल रहा है"

(ग्रं. ३, पृ. ८६)

जीवन से कविता का संबंध दो प्रकार का होता है- यथार्थोन्मुख और आदर्शोन्मुख. कविता में जीवन की अभिव्यक्ति के साथ-साथ परिष्कृति की संभावना भी होनी चाहिए. इस प्रकार लोकमंगल की भावना का समावेश ही काव्य का 'शिवं' तत्त्व है.

असुन्दर वस्तु भी काव्य में सुन्दर रूप धारण करती है. यही काव्य का 'सुन्दरं' तत्त्व है.

गुलाबजी के अनुसार काव्य में सत्यं, शिवं तथा सुन्दरं, तीनों की अवस्थिति होनी चाहिए.

"यदि मेरे हृदय में सच्चाई (सत्यं)
उँगलियों में कला (सुन्दरं)
और जीवन में समर्पण है (शिवं)
तो मेरी तुच्छतम अभिव्यक्ति भी
संसार के प्रत्येक व्यक्ति की भावना का दर्पण है."

(ग्रं. २, पृ. १५१)

इस प्रकार गुलाबजी बाह्य तत्त्वों से अधिक महत्त्व आंतरिक गुणों को देते हैं. वे काव्य को कवि के अंतर से उद्‌भूत, उसके प्राण का धर्म मानते हैं, नीरस व्यावसायिक मजबूरी नहीं.

"प्राण का धर्म ही साहित्य है, व्यवसाय नहीं
शुद्ध व्यक्तित्व का विभास, संप्रदाय नहीं"
(ग्रं. ३, पृ. १०५)

रस

महाकवि भवभूति ने करुण को मूलभूत रस माना है.

"एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्
आवर्त्तबुद्बुद तरंगमयान्विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समग्रम्"
(उत्तररामचरितम्, तृतीय अंक, ४७)

अर्थात् मूल रस एक ही है और वह करुण है. वह निमित्त की भिन्नता से, कारणों के भेद से, भिन्न-भिन्न विकृति को प्राप्त होता है. करुण ही स्थायी भावों की भिन्नता के कारण श्रृंगारादि रसों के रूप में अवतीर्ण होता है. जैसे हवा के झोंकों से जल कभी आवर्त्त, कभी बुद्बुद् और कभी उत्ताल लहर बन जाता है, वही स्थिति करुण-रस की भी है.

'साहित्य-दर्पण' में इसके संकेत मिलते हैं कि विश्वनाथ कविराज के कोई पूर्वज नारायण पंडित थे जिन्होंने आश्चर्य को ही आदि रस माना था. उनके अनुसार प्रत्येक रस में विस्मय की ही भावना सर्वप्रधान रहती है. सामान्य बातों से न तो श्रोता आकृष्ट होते हैं, न उनका मनोरंजन ही होता है. अतः काव्य में असामान्य बातें होनी आवश्यक है और इसी कारण से आश्चर्य को मूल रस मानना चाहिए. धर्मदत्त ने अपने ग्रन्थ में नारायण पंडित के अद्भुत रस की मान्यता की बात लिखी है.

"रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूतये
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्रप्यद्‌भुतो रसः
तस्माददद्‌भुद्‌मेवाह कृती नारायणो रसं"

(संस्कृत आलोचना, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ. २६२)

गुलाबजी भी विश्व में अद्‌भुत और करुण, ये दो रस ही व्याप्त देखते हैं.

"चिन्तक के लिए अद्‌भुत
और भावुक के लिए करुण
अन्त मे यही दो अनुभूतियाँ टिक पायी हैं
देव के इस काव्य में
बस यही दो भाव स्थायी हैं
प्रकृति की प्रत्येक भंगिमा
हमें विस्मय से अभिभूत कर देती है
और चल-चित्रों सी क्षण-क्षण बदलती
जीवन की वास्तविकता
हमारे मन को करुणा से भर देती है
यों तो हमारी चेतना
सदा किसी-न-किसी भाव-तरंग में
उफनाती रहती है
पर वह कितनी भी उमड़े और लहराये
इन्हीं दो किनारों के बीच बहती है."
(ग्रं. २, पृ. २४६)

गीति-काव्य

प्रबंध काव्य की तुलना में गीतों का कलेवर लघु होता है. गीत यद्यपि 'नावक के तीर' की तरह छोटे होते हुए भी 'गंभीर घाव' करने में समर्थ होते हैं पर उनकी अभिव्यक्ति का क्षेत्र तथा प्रभाव भी सीमित ही होता है.

"गीत–रस तो बस इतना है
भरे हुए भादो के नद में
बुद्‌बुद् जितना है
...
कुछ तो यहाँ ठहरते कविवर
यदि प्रबंध तुम लिखते
विस्तृत मानसरोवर जैसे
तृषातुरों को दिखते
तनिक अधर छू सके
गीत का तो बस इतना है"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. १०३)

यों तो गीतों में सुख–दुःख दोनों के क्षणिक भावों की ही प्रस्तुति होती है किन्तु दुःख की अभिव्यक्ति के लिए गीत उचित माध्यम है.

"गीत में आँसू ही भाता है.
शब्दों की सीपी में आँसू मोती बन जाता है"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. ९८)

गीत की रचना गाने के लिए होती है अतः उनमें गेयता एक अनिवार्य गुण है. गीतों का असली सौंदर्य तभी प्रस्फुटित होगा जब वे लोगों की जबान पर स्वरों के साथ चढ जाएँ. कवि की अपने गीतों से यही कामना और विश्वास, दोनों है.

"गीत ये गूँजेंगे उर–उर में
जब भी कोई विह्वल होगा
जब भी कोई चंचल होगा
जब भी कोई घायल होगा
निज पीड़ा को व्यक्त करेगा, इन्हीं पदों के सुर में"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. १०५)

तुलनात्मक आलोचना

कविता में कवि की आत्मा, उसका धड़कता हुआ हृदय, उसके कंठगत प्राण बसते हैं. प्रत्येक मनुष्य विधाता की एक अलग रचना है और अपने आप में अनूठा है. इसी प्रकार हर कवि भी अपने आप में संपूर्ण होता है. वह बड़ा-छोटा, निकृष्ट-प्रकृष्ट, नहीं होता, केवल कवि होता है. गुलाबजी के अनुसार एक कवि की तुलना दूसरे कवि से नहीं करनी चाहिए. अलग-अलग भावक्षेत्र और स्तर पर स्थित उनकी कविताओं का अपनी अभिरुचि के अनुसार रसास्वादन करना चाहिए.

"दो कवियों की आपस में
तुलना नहीं करनी चाहिए
एक की शराब
दूसरे की गंगाजली में
नहीं भरनी चाहिए
. . .
एक से मंदिर में
और दूसरे से नृत्य-सभाओं में ही
हम मिला करें
पर यदि दोनों की
सुगंध मन मोह लेती है
तो अच्छा यही है
कि दोनों
अपने-अपने वृन्त पर ही खिला करें"
(ग्रं. २, पृ. २५१)

काव्य–परिवार

अपनी कविता के प्रति

कविता कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है, उसका स्वाभाविक धर्म है. जिस समय वाग्देवी की कृपा होती है, कविता का सृजन अनायास होता जाता है. छन्द अपने आप बनते जाते हैं और कविता की धारा लघु सरि–सी बाधाहीन बहने लगती है. अँधेरे में द्वार खुलते जाते हैं, राहें मिलती जाती हैं. कविता की शोभा से संसार तो मुग्ध होता ही है, स्वयं कवि भी इस रत्न–राशि को देखकर चमत्कृत हो जाता है.

"घुल रहे छन्द
बहती सरि–सी कविता अमन्द
संसार लुब्ध, सौ बार मुग्ध
खुलते रजनी के द्वार बन्द
अब रत्न–कणी–सा हेर रहा
अपनी सुषमा का सहज हास
लघु है प्रदीप, लघु है प्रकाश"
(ग्रं. १, भाग १, पृ. ५२)

कविता का यह अवतरण उतना ही स्वाभाविक, स्वयमेव और अनायास होता है जैसे जल से भरे बादलों से वर्षा की मोटी–मोटी बूँदों का टपकना. कवि स्वयं को निर्वाण की इस चरम आनन्दानुभूति के क्षणों में केवल साक्षी के रूप से उपस्थित पाते हैं.

"मेरा वश क्या टूट रही अभिव्यक्ति में
साक्षी मैं तो केवल इस निर्वाण का
जितना गहरा स्नेह वर्तिका को मिला

उतनी देर जलाया दीपक प्राण का"

(ग्रं. १, भाग १, पृ. २६५)

कविता कोई गढ़ी हुई गाथा नहीं, स्वयं कवि का जीवन, उसका व्यक्तित्व है जिसने शब्दों में अवतरण लिया है. इस प्रकार कविता और कवि एक दूसरे के पर्यायवाची बन गये हैं.

"काल के पटल पर यह
ताजमहल गीतों का
मैंने निज को ही
तोड़-तोड़ कर बनाया है"

(ग्रं. ३, पृ. ११०)

"ज्यों न भिन्न स्रष्टा संसृति से
मैं अभिन्न हूँ अपनी कृति से
मेरे ही प्राणों की गति से,
मुखर हुई रजता है"

(ग्रं. १, भाग २, पृ. १८५)

"मैं न लिख रहा काव्य को अपने
काव्य मेरा मुझे ही लिखता है"

(ग्रं. ३, पृ. ११२)

गुलाबजी अपनी कविता में आत्माभिव्यक्ति, सहजता तथा अकृत्रिमता को बाह्य उपकरणों से अधिक महत्त्व देते हैं. उन्होंने पाया कि काव्यशास्त्रीय नियमों के बन्धन कविता की नैसर्गिक उड़ान, उसके स्वरों की दूरगामिता में बाधक होते हैं. बन्धन-मुक्ति का नारा लगानेवाला छायावाद भी इस दोष से नहीं बच सका. अतः उन्होंने अपने गीत विहग को स्वर्ण-पिंजर से मुक्त करके ऊँची उड़ान केलिए छोड़ दिया और वे केवल उसके स्वर दुहराते हैं.

"उसका स्वर दुहराता, मैंने

कवियों की परिपाटी में,
चरण न बाँधे उसके, कोमल
पंखों को न कभी ऐंठा"
(ग्रं. ३, पृ. २३)

यह बन्धनहीनता उच्छृंखलता नहीं, सहजता है. जैसे कूकना कोयल का स्वभाव है वैसे ही काव्य-सृजन कवि का. पाठकों-आलोचकों की प्रशस्ति-निन्दा से निरपेक्ष तथा विरत कवि अपने काव्य-सृजन में वैसे ही निरत हैं जैसे कोयल.

"कोयल को यह चिन्ता कब सताती है
कि कोई उसकी रागिनी
सुनता है या नहीं
फूल को इसकी परवाह कब हुई है
कि कोई उसे डाल पर से
चुनता है या नहीं
. . .
मुझे ही इसकी आकुलता क्यों हो
कि कोई मेरे गीतों पर
सिर धुनता है या नहीं"
(ग्रं. २ पृ. २४८)

गुलाबजी की प्रारंभिक रचनाएँ यद्यपि छंद अलंकारादि से समृद्ध रही हैं, किन्तु इनका अकारण मोह उन्हें कभी नही रहा. काव्य के श्रृंगारिक उपकरण कभी-कभी उसकी आत्मा पर बोझ बन जाते हैं. ऐसे में कवि द्वारा इनके क्रमशः त्याग से उनकी कविता स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर होती है.

"हाथ से साज नही छोड़ा है
यद्यपि एक-एक कर मैंने,

तारों को तोड़ा है."

(ग्रं. १, भाग २, पृ. ४६)

अन्नमय कोष से आनन्दमय कोष तक की इस यात्रा में आहत-नाद अनहद-नाद में परिवर्तित हो जाता है. अपनी भाषा के विषय में वे कहते हैं

"अब मेरी वीणा,
बाह्य उपकरणों से स्वच्छन्द है
तार रहें या मत रहें
झंकार तो इसमें बन्द है."

(ग्रं. २, पृ. ५२)

संसार की स्थिति का आधार प्रेम है. गुलाबजी के काव्य का उपजीव्य भी प्रेम तथा प्रयोजन प्रेम का प्रसार है. उनके अनुसार कवि का संसार भी प्रभु के संसार की तरह प्रेम से ओतप्रोत होना चाहिए.

"यदि मेरी पंक्ति-पंक्ति से
तेरे प्रेम की सुगन्ध नहीं आती है
तो केवल कागज काले करते जाने का
कोई अर्थ नहीं है."

(ग्रं. २, पृ. २३२)

यह प्रेम व्यक्तिगत से समष्टिगत, लौकिक से अलौकिक के सोपानों पर चढ़कर कवि के लिए भगवद्प्रेम का तथा कविता के लिए लोकमंगल का द्वार खोलता है. जिनकी आँखों के स्वप्न बुझ गये हों, जो जीवन-समर में पराजित, दुर्बल, विकल, लांछित हों, उनके आँसू पोंछने के लिए कवि अपनी कविता को प्रेषित करते हैं.

"शब्द मेरे उड़ो स्वर्ग-कपोत बनके
दुःख-विकल संसार में"

(ग्रं. १, भाग १, पृ. १४८)

वे प्रेम के ही नहीं प्रकाश के भी कवि हैं. अपनी अंतर्व्यथा का उपयोग जग को मृदु हास देने में करके अवसाद के अंधकार में जग को प्रकाश देते हैं.

"तू क्यों आँसू व्यर्थ बहाये
कितने सागर-मंथन पर ये
मोती तूने पाये
तू अपनी पीड़ा को स्वर दे
शब्दों में यह क्रन्दन भर दे
अगजग छवि से जगमग कर दे
दुःख भी सुख बन जाये"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. १३१)

कविता के मूल में मर्मवेदना होती है. जैसे लोहा लोहे को काटता है, इस वेदना से ही वेदना की औषधरूप कविता बनती है.

"विष-सी पचा के निज मर्मवेदना की पीर
विश्व के लिए तो कालिदास बन जाता मैं."
(ग्रं. ३, पृ. १५९)

काल्पनिक दुःख से वास्तविक दुःख बड़ा होता है. कवि का यथार्थ भोगा हुआ यथार्थ है, गगनचारिता नहीं. एकाकी मन खुद अपनी पीड़ा का साक्षी है.

"मन की इस पीड़ा का साक्षी तो
एक मेरा मन ही अकेला है
वही कह सकेगा प्रतिचरण मैंने
कैसे निज हाथों से गढ़ा है
भोगा है कैसे वह बार-बार
जो तुमने पुस्तकों में पढ़ा है."
(ग्रं. २, पृ. २८-२९)

यह भोगा हुआ दुःख ही कविता बनकर फूट पड़ा

है. कबीर और मीरा की तरह गुलाबजी की कविता भी प्रेम की पीड़ा से उद्‌भूत है.

"मिट्‌टी हूँ चाक पर चढ़ा ले मुझे रौंद ले
जितना जी चाहे, वेदना से प्राण गोद ले
कितना भी आज भावना से कर विनोद ले
पीड़ा यह फूटके रहेगी नयी पौध ले"

(ग्रं. १, भाग १, पृ. ३४०)

अप्राप्ति की पीड़ा टीस देती है किन्तु गीतों को ऊर्ध्वमुखी बना देती है.

"पर इस अतृप्ति के कारण ही तो,
मेरे प्राणों से यह झंकार उठती है
इसीलिए तो मेरा गीत–विहग
सतत आकाश की ओर उन्मुख है."

(ग्रं. २, पृ. २३६)

हृदय के रक्त से खिले कविता रूपी अनमोल फूल का मूल्यांकन जब साधारण तुला पर होता है तो कवि का स्वाभिमान जाग उठता है.

"मोल नहीं लूँगा इन क्षणों का
मन ही मन भोगे हुए व्रणों का"

(ग्रं. १, भाग २, पृ. ७६)

गुलाबजी के लिए कविता उनके प्राणों की वाणी है, उनके जीवन का पर्याय है. वह उनके लिये वैसे ही स्वाभाविक तथा अनिवार्य है जैसे साँसें लेना.

"मैंने मन का मोल किया था, साँस नही तोली थी
प्राणों की वाणी बोली थी, डाक नहीं बोली थी"

(ग्रं. १, भाग १, पृ. ३३७)

उनकी कविता उस निर्झरिणी की तरह है जिसे पर्वत से फूटकर निकलना ही है चाहे कोई उस अमृतजल

को अपने कलश में भरे या न भरे. दीपक की लौ की तरह यह ऐकान्तिक साधना है, जिसे पतंगों के मँडराने, न मँडराने की परवाह नहीं.

संस्कृत में कहावत है,

"नरत्वं दुर्लभं लोके, विद्या तत्र सुदुर्लभा
कवित्वं दुर्लभं लोके, शक्ति तत्र सुदुर्लभा"

किन्तु कवित्व और शक्ति प्राप्त होने पर भी काव्य-कर्म क्या सरल होता है? गुलाबजी इसकी कठिनाइयों से परिचित हैं

"शून्य पर सेतु बाँधना है यह
प्राण की महाराधना है यह
एक पल के विराट् दर्शन को
एक आमरण साधना है यह"

(ग्रं. ३, पृ. ३७५)

कविता को सहृदयों से प्यार तथा विद्वानों से सम्मान की अपेक्षा रहती है. इनके अभाव की हताशा को भुक्तभोगी ही समझ सकता है. अपनी काव्य-यात्रा के दौरान कवि को विचलित करने वाले बहुत से घटक मिले. उन्हें भावनाहीन नेत्रोंवाले, ऊँघते हुए से, पाठक-समुदाय मिले. क्रूर-हृदय सौदागर मिले. उन्हें हुकुम के अनुसार आक्रमण करने को सेना की तरह तत्पर, काव्य का मर्म न जानने-वाले, ऐसे आलोचकों की कतारें मिलीं जिनके पास अपना मस्तिष्क ही नहीं था. ये सभी उन्हें प्रेतों की तरह दीख रहे थे तथा कष्ट दे रहे थे. कवि का कल्पना-प्रवण होना तथा काव्य-जगत की सैर करना उनके लिए कौतुक का विषय था.

"वे मुझे घेरकर तालियाँ पीटने लगे
जब सुना कि मैं

चाँद पर टहलता रहा हूँ"

(ग्रं. २, पृ. ९४)

राह के सुन्दर दृश्य उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करना चाह रहे थे पर काव्य के प्रति अपनी प्रतिबद्धता ने उन्हें कहीं भी भटकने नहीं दिया. अपनी काव्य-प्रतिभा के बोझ तले वे इस थकानभरी कठिन यात्रा पर निरंतर चलते रहे.

"पर मैं बेबस-सा सूरज की गठरी लादे
पग-पग पर कंधा बदलता रहा हूँ
मैं फिर भी चलता रहा हूँ"

(ग्रं. ३, पृ. ९४)

छायावाद के बाद हिन्दी कविता अनेक वादों के घेरे में घिर चुकी थी. प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, यथार्थवाद, प्रतीकवाद, अस्तित्ववाद, नकेनवाद आदि वादों के घुमाव में कविता की स्रोतस्विनी अपनी सहज गति से वंचित हो गयी थी. प्रत्येक वाद अपने साथ कुछ कवियों का गुट लेकर आता था जो अपने वाद के प्रति प्रतिबद्धता की शपथ लेते थे. ऐसे में किसी वाद का सहारा न लेकर केवल अपने प्रति प्रतिबद्धता की शपथ लेना बड़े जीवट का काम है.

गुलाबजी ने अपने लिए अभिव्यक्ति की नयी दिशा ढूँढी. उन्होंने अपनी पगडंडी खुद बनायी, किसी वाद के राजमार्ग से कभी नहीं गुजरे. इससे उनका कार्य और भी कठिन हो गया यद्यपि अपने और अपनी कविता के प्रति प्रतिबद्धता उन्हें एक-एक कदम आगे बढ़ने की प्रेरणा और शक्ति भी देती रही. टूटन और हताशा से भरे इस मार्ग की कठिनता का अंदाज़ इन पंक्तियों से लग सकता है.

"यद्यपि सूर्यास्त के पूर्व
मुझे इस पर्वत पर चढ़ना है
पर अपने लिए एक-एक सीढ़ी काटते हुए ही

आगे की ओर बढ़ना है
न तो मैं औरों के सिर पर से
छलाँग लगा सकता हूँ
न ऊपर ही ऊपर उड़ता हुआ
शिखर तक जा सकता हूँ
मुझे तो हर कदम पर चुनौती देते हुए
इन पाषाण-खंडों के बीच से ही
अपना मार्ग गढ़ना है;"

(ग्रं. २, पृ. १८३)

किसी वाद के साथ न चलने के कारण अवहेलना तो झेलनी ही थी किन्तु कवि ने कभी सत्य की राह नहीं छोड़ी तथा अपने कर्तव्य कर्म से मुँह मोड़े बिना निरंतर कार्यशील रहे. उनकी प्रतिबद्धता सामयिक नहीं आजीवन है.

"कहें, शौक से कहें
जिन्हें जो कहना है
मुझे तो केवल अपने प्रति प्रतिबद्ध रहना है."

(ग्रं. २, पृ. ५५)

काव्य-साधना के मार्ग की कठिनाइयों से घबराकर मार्ग न बदलने की प्रतिबद्धता को उन्होंने कई बार दुहराया है. काव्य-सृजन का ताना-बाना उनकी साँसों से बँधा हुआ है.

"यदि इस वंशीवादन को रुकना ही है
तो मेरी साँस के साथ-साथ ही रुके
जब तक मैं चुक नहीं जाऊँ
इसकी तान भी नहीं चुके"

(ग्रं. २, पृ. २१४)

कभी-कभी तो कवि को स्वयं भी आश्चर्य होता है कि उन्होंने यह कष्टसाध्य लक्ष्य क्यों चुना.

"मैंने यह साँप क्यों पकड़ा है
कि जिसने उलटकर मुझको ही
सिर से पाँवों तक जकड़ा है?"
(ग्रं. १, भाग १, पृ. ३४२)

नस-नस में विष की चुभन और पोर-पोर में दर्द की अनुभूति से ओठ नीले पड़ गये हैं. किन्तु अब इससे छुटकारे का कोई उपाय नहीं. यही कवि-कर्म की नियति है. जैसे चन्दन घिसने पर ही सुगन्ध देता है, सोना तपकर ही कुन्दन बनता है, कवि को उन्नयन की राह भी इस कष्ट में से गुजर कर ही मिलती है.

"साँप मुड़कर सलीब बन गया है
मस्तक पर छत्र सदृश तन गया है
करते हैं लोग खड़े जयजयकार
सिर जैसे अम्बर से अड़ा है"
(ग्रं. १,भाग १, पृ. ३४२)

कविता आन्तरिक भावों की शाब्दिक अनुभूति है. गूँगे के गुड़ की तरह ही उसका प्रकटीकरण किया जा सकता है. सूक्ष्म का स्थूल में यह रूपान्तरण असीम के ससीम माध्यम द्वारा रूपान्तरण की तरह अपूर्ण होता है. अतः अभिव्यक्ति के वरदान के बावज़ूद कवि को अपूर्णता की अनुभूति होती है.

"जो मुझे गाना था, अगेय ही रहा
ओ करुणामय,
तेरा देय अदेय ही रहा."
(ग्रं. २, पृ. ५१)
"इतना लिख-लिख कर भी लगता है
पृष्ठ सभी सादे हैं"
(ग्रं. २, पृ. ७५)

सहृदय

सहृदय में भी कवि के समान कोमल भावनाएँ तथा उच्च कल्पनाशक्ति होती हैं. अतः काव्य-पाठ के समय कवि और श्रोता एक ही भाव-भूमि पर पहुँच जाते हैं. कवि-व्यक्तित्व के इस प्रसार को, उसके 'स्व' के 'पर' के साथ इस तादात्म्य को साहित्य-शास्त्र की भाषा में 'साधारणीकरण' कहते हैं

"मैं तो अपने अंतर की
परवशता गीतों में खोता
जाने क्यों पढ़-पढ़ कर उनको
भावुक जग हँसता-रोता"
(ग्रं. ३, पृ. ३६)

वस्तुतः कविता में कवि के साथ सहृदय की छवि भी विद्यमान रहती है. 'सहृदय' शब्द का वृत्तिलभ्य अर्थ है, 'कवि के हृदय के साथ संवाद' है. अर्थात् सहृदय कवि के साथ एकरूपता धारण करने वाला व्यक्ति होता है. काव्य के एक छोर पर कवि है तो दूसरी ओर पर विराजनेवाला भाग्यशाली पुरुष है सहृदय.

कुन्तक की काव्य-भावना में सहृदय के हृदयानुरंजन का भी विशेष महत्त्व है. भामह की तरह कुन्तक भी काव्य में 'अतिशय' के पक्षधर हैं. किन्तु काव्य में यह 'अतिशय' उद्दण्ड कथन या उटपटाँग उक्ति द्वारा न किया जा सके, 'लोकान्तिगोचरता', लोक से विलक्षणता बेसिरपैर की बातों से न की जा सके, इसके लिए कुन्तक ने 'सहृदय' का सहारा लिया है. उनके अनुसार काव्य-मर्मज्ञों के हृदय में आह्लाद उत्पन्न करना उसका एक नितान्त आवश्यक गुण होता है. काव्य में वाच्य, वाचक और वक्रोक्ति का अतिशय तो हो किन्तु इनसे स्वतन्त्र एक पृथक्

वस्तु होती है जिसका अंतर्भाव पूर्वोक्त तीनों वस्तुओं के अतिशय में नहीं किया जा सकता. वह है, "तद्विह्लादकारिता".

"यस्यामतिशयः कोऽपि विच्छत्या प्रतिपाद्यते
वर्णनीयस्य धर्मस्य तद् विह्लाददायिनाम्"
(वक्रोक्तिजीवितम्, पृ. १९७)

जिस काव्य ने सहृदयों का अनुरंजन नहीं किया वह वक्रोक्ति से मंडित होकर भी काव्य की स्पृहणीय पदवी से वंचित ही रहता है. इस प्रकार काव्य की स्वरूप निष्पत्ति के लिए सहृदय की भी आधिकारिकता है.

आनन्दवर्धन ने भी सहृदय की गरिमा स्वीकार की है. सहृदय के विषय में अभिनवगुप्त का लक्षण स्पष्ट, विशद तथा आवर्जक है.

"येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्
विशदीभूते मनोमुकुरे
वर्णनीय तन्मनोभवन योग्यता ते
हृदयसंवादभाजः सहृदयः"
(ध्वन्यालोकलोचन, ११, पृ. १६०)

"काव्य के अनुशीलन के अभ्यास से अर्थात् निरंतर काव्य के अध्ययन तथा चिन्तन से जिनका मनोमुकुर नितान्त विशद हो जाता है और जो वर्णनीय वस्तु के साथ तन्मय होने की योग्यता रखते हैं, वे ही सहृदय हैं.

संस्कृत की कवयित्री विज्जिका ने भी काव्यात्मक लहजे में रसिक अर्थात् सहृदय की परिभाषा दी है. उनके अनुसार कवि के व्यंजनाद्योतित गूढ अभिप्राय को जो रसिक शब्दों के द्वारा अपने हृदयोल्लास की सूचना नहीं देता प्रत्युत जिसके रोमांचित अंग हृदय की आनन्दलहरी का पता चुपके से ही बता देते हैं, वही सच्चा रसिक है,

सहृदय है.

"कवेरभिप्रायमशब्दगोचरम्
स्फुरन्तमार्द्रेषु पदेषु केवलं
वदद्भिरंगैः स्फुटरोम विक्रियैः
जनस्य तूष्णीं भवतोऽयमंजलिः"

सहृदय में कविता रूपी रत्नों के हार को धारण करने की योग्यता तथा समीक्षकों में उसके मूल्यांकन की क्षमता आवश्यक है. कवि के सामने तो यह समस्या है कि

"यह रत्नों का हार किसे पहनाऊँ?
नहीं कहीं जो मुझको क्षण में
भर लेते निज भुजबन्धन में
देख-देखकर मुँह दर्पण में
कब तक जी बहलाऊँ!"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. ७२)

वैसे यह पाठकीय समस्या प्रत्येक युग के कवियों के सम्मुख रही है. संस्कृत का एक कवि प्रार्थना करता है,

"इतर पापफलानि यथेच्छया
वितर तानि सहे चतुरानन
अरसिकेषु कवित्व-निवेदनं
शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख"

ऐसे काव्य निवेदन को गुलाबजी विष के घूँट के सदृश मानते हैं.

"सुकरात की तरह उसे जीना आ जाय
हँस-हँस के घूँट ज़हर का पीना आ जाय
पगुराती हुई महिष-मंडली के बीच
कोई जो लिये काव्य की वीणा आ जाय"
(ग्रं. ३, पृ. १११)

गुलाबजी स्वयं को ऊसर के फूल के रूप में पाते

हैं. न कोई उसकी जड़ों को सींचनेवाला है न उसकी सुन्दरता से मुग्ध होनेवाला. ऐसे नीरस वातावरण में काव्य-रचना एक कठिन कर्म है. सहृदय के अभाव में कविता की बेल सूख जाती है.

"मैंने मरु में केसर बोयी
नहीं एक भी अंकुर फूटा,
सिकता लाख भिगोयी

. . .

जो निर्गन्थ कनक के लोभी
उनको क्या, भू सुरभित हो भी
पर न दिखी जब रसिकों को भी
जागी पीड़ा सोयी"

(ग्रं. १ भाग २, पृ. १३६)

कवि का काम है काव्य का सर्जन और भावक का कार्य है कार्य का समीक्षण. जैसे शालिग्राम शिला और कसौटी पत्थर दोनों ही काले होते हैं पर एक सोना पैदा करता है, दूसरा उसका मूल्यांकन. एक उत्पादक है, दूसरा परीक्षक. कवि कालिदास भी इन्हें अलग-अलग मानते हैं. भावक कभी-कभी काव्य में ऐसे गुणों को खोज निकालता है जिनका पता स्वयं कवि को भी नहीं होता.

काव्य के एक ओर उसका सर्जक खड़ा होता है तो दूसरी ओर होते हैं उसके पाठक. काव्यानन्द लेने के लिए पाठक को भी कुछ योग्यता धारण करती पड़ती है. जैसे कवि के लिए प्रतिभा के साथ व्युत्पत्ति और अभ्यास आवश्यक माने गये हैं वैसे ही पाठक के भी कुछ गुण होते हैं.

१. प्रतिभा – कवि कारयित्री प्रतिभा से सृजन करता है और भावक भावयित्री प्रतिभा से उसका आस्वाद

करता है. भावना की शक्ति तो पाठक में भी होती है, केवल अभिव्यक्ति की शक्ति का अभाव होता है. इसे ही लक्ष्य करके कवि कहते हैं,

"तेरे दिल में भी ये अरमान मचलते हैं सुना
आ मेरे साथ सितारों पे चल सके तो चल"
(ग्रं. १, पृ. ३१७)

२. प्रबुद्धता – काव्यशास्त्र की शिक्षा, भाषा आदि का ज्ञान जितना ही उच्च होगा, काव्य का रसास्वादन उतना ही शीघ्र और सरलता से होगा. कवि के वाग्वैदग्ध्य को समझने के लिए पाठक में भी प्रबुद्धता होनी चाहिए.

३. कल्पना – कवि विधायक कल्पना से वर्णन करता है और पाठक ग्राहक कल्पना से उसका आनन्द लेता है. जहाँ कवि चित्रण को अपूर्ण छोड़ देता है वहाँ पाठक की कल्पना उसे पूर्ण कर देती है. इससे पाठक को एक रचनात्मक संतोष भी मिलता है. इसीसे पाठक काव्य में बहुत कुछ ऐसा पाता है जिसका पता स्वयं कवि को भी नहीं होता.

४. सहृदयता – कवि सहृदय के दर्पण में स्वयं को देखता है.

५. पूर्वाग्रहमुक्तता – पाठक को पूर्वाग्रह से मुक्त होकर काव्य का पठन या श्रवण करना चाहिए. प्रायः नये कवि तथा नये काव्य को संशय की दृष्टि से देखा जाता है. कालिदास के अनुसार न तो पुराने होने से सब अच्छे हो जाते हैं, न नये होने से सब बुरे होते हैं. समझदार लोग तो दोनों को परखकर इनमें से जो अच्छा होता है, उसे अपना लेते हैं और जिन्हें अपनी समझ होती ही नहीं है, वे दूसरों के कहे हुए को ही ठीक मान बैठते हैं.

पुराणमित्येव न साधु सर्वम्
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते
मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः"
(कलिदास, मालविकाग्निमित्र, १/२)

६. प्रतिक्रियाप्रवण – गुणहीनों की प्रशंसा और गुणी लोगों का मौन, कवि के लिए दोनों स्थितियाँ कष्टकर हैं. पाठक के प्रमादवश या आलस्यवश प्रतिक्रिया व्यक्त न करने से कवि को अपनी सही स्थिति का अंदाज़ नहीं हो पाता. सहृदय की प्रतिक्रिया से कविता अनमोल हो जाती है.

"अंक–अंक प्रति धर दिये, अश्रु–बिन्दु शत गोल
कविता मेरी बन गयी, कोटिगुनी अनमोल"
(ग्रं. ३, पृ. १८३)

यद्यपि कवि को खेद है कि बँगला की तरह के पाठक, श्रोता और गायक हिन्दी के गीतों और पदों को नहीं मिलते पर उनका सर्वथा अभाव है, ऐसा भी नहीं है.

"फ़िर भी ऐसे अलबेले
मिल ही जाते हैं कभी–कभी
जो मेरी तरह
विष पीकर मुस्कुराने लगते हैं.
(ग्रं. १, पृ. ७७)

विद्वानों की स्वीकृति और प्रशस्तिपत्रों की अपेक्षा सहृदयों की प्रशंसा अधिक मूल्यवान है. कवि के लिए तो उसने संजीवनी का काम किया है.

"शून्य मरुथल में मिला जल तो, भले मृगजल ही
तृषार्त मन को उसी से जिला लिया मैंने"
(ग्र. १, पृ. ३१४)

आलोचक

एक ओर सहृदय पाठकों का स्वीकार है तो दूसरी ओर आलोचकों का अहंकार. संस्कृत के ग्रंथों में आलोचक की मीमांसा बड़ी विशदता के साथ की गयी है. काव्य के गुण-दोष की विवेचना करनेवाले व्यक्ति को 'आलोचक' कहते हैं. वह काव्य के मर्म को समझता है तथा उसे उपयुक्त शब्दों में समझाता है. काश्मीरी कवि मंखक के अनुसार, "बिना हवा के तीव्र झोंकों के दीप तथा मणिदीप का भेद कथमपि नहीं जाना जा सकता. आलोचना की भी इसलिए आवश्यकता है कि मित कवि (सामान्य कवि) तथा महाकवि (महनीय कवि) के अंतर स्पष्ट मालुम हो जायँ और इस कार्य के संपादन की योग्यता से मंडित व्यक्ति ही आलोचक का गौरवपूर्ण पद प्राप्त कर सकता है."

"नो शक्य एव परिहत्य दृढां परीक्षां
ज्ञातुं मितस्य महतश्च कवेर्विशेषः
को नाम तीव्रपवनागमसन्तरेण
तत्त्वेन वेत्ति शिखिदीप मणिप्रदीपौ"

आलोचक के तीन महनीय गुण हैं.

१. व्युत्पत्ति- काव्य के अंतःस्थल तक पहुँचने की योग्यता.

२. मर्मज्ञता- काव्य के रहस्य को समझने की योग्यता अर्थात् भावुकता. इसके अभाव में आलोचना तलस्पर्शिनी नहीं होती.

३. मत्सरहीनता- कवि-विशेष के लिए ईर्ष्या का अभाव. आलोचक को उदार तथा पूर्वाग्रहरहित होना चाहिए.

आलोचक चार प्रकार के होते हैं

१. अरोचकी- पैनी दृष्टिवाले. इन्हें वास्तव गुणों से संपन्न काव्य ही संतुष्ट कर पाते हैं.

२. सतृष्णावहारी– स्थूल–दृष्टि आलोचक. इन्हें स्थूल और सूक्ष्म गुणों की परख नहीं होती.
३. मत्सरी– कवि से डाह रखनेवाला.
४. तत्त्वाभिनिवेशी– काव्यतत्त्व को पकड़नेवाला, छिपे हुए भी गुण–दोषों को समझकर ढूँढ निकालनेवाला.

गुलाबजी के अनुसार आलोचक में विद्वत्ता के साथ सहृदयता भी होनी चाहिए तभी कविता का सही मूल्यांकन हो सकता है. पर ऐसा वे पाते नहीं हैं.

"विद्वान हो और सहृदय हो
यह कैसे हो सकता है!
ऐसा कौन है जो एक साथ ही
हँस सकता है और रो सकता है!"
(ग्रं. २, पृ. ४८)

सहृदय यदि फूल की खुशबू लेनेवाला है तो आलोचक उसकी पँखुरियों को कुतरनेवाला, बाल की खाल उधेड़नेवाला. ऐसे संशयवादी काव्य के वास्तविक सौंदर्य से वंचित रह जाते हैं.

"गुलाब आपकी ख़ुशबू भी उनको क्या मिलती
जो अपने पाँव पँखुरियों पे रखके आये हैं!"
(ग्रं. ३, पृ. २९८)

आलोचक में नीर–क्षीर–विवेक होना चाहिए. कविवर बिहारी कहते हैं,

"करि फुलेल को आचमन, मीठो कहत सराहि
रे गन्धी, मति–अन्ध तू, इतर दिखावत काहि"

तुलसीदास के अनुसार भी मणि के गुणों की परख सब्जी बेचनेवाले को नहीं होती.

"सो मो पे कहि जात न कैसे
साक–बनिक मनि–गुन–गन जैसे"

शाक-वणिक द्वारा मणि के गुणों की परख किये जाने पर मणि को जिस अवमानना की अनुभूति होती है, कवि भी उस यन्त्रणा को भोगते हैं.

"चारों ओर गँधाती मछलियों के बीच
मेरी बोली लगती रही
और मेरी अस्मिता
सीलनभरी लकडियों सी बेबस सुलगती रही"
(ग्रं. २, पृ. १६२)

समीक्षकों में गुणग्राहकता होनी चाहिये. उनका काम रचनात्मक होना चाहिये, विध्वंसक नहीं. किन्तु वे तो परशुराम के अवतार की तरह हर राम को संशय की दृष्टि से देखते हैं. उनके धनुष-भंग जैसे पुरुषार्थ पर चकित, चमत्कृत होकर प्रशंसा करने की बजाय भौंहें चढ़ाते तथा प्रश्न उठाते हैं. अपने अंतर में उनकी महत्ता को महसूस करके भी मुँह से स्वीकार करने में हिचकिचाते हैं.

"गुलाब! इस बाग़ की रंगत थी तुमसे
वे किस मुँह से मगर यह नाम लेंगे!"
(ग्रं. ३, पृ. २४८)

कवि का लक्ष्य यश नहीं संप्रेषण है. उन्हें वाग्देवी के मन्दिर की देहली का पत्थर बनना भी स्वीकार है, जहाँ भक्तों के पाँव पड़ते हैं. विद्वानों की अपेक्षा सहृदयों का स्वीकार अधिक मूल्यवान है. विद्वानों की उपेक्षा के दंश पर सहृदयों की प्रशंसा ने मलहम का कार्य किया है.

"भास हो या कालिदास
सबने भोगा है यह संत्रास
आज की बात नहीं
सदा से यही होता आया है
हर युग का भवभूति

अपनी उपेक्षा का रोना रोता आया है"
(ग्रं. २, पृ. ४८)

कवि में इतनी जीवनी शक्ति है कि सहस्रबाहु की तरह वे परशुराम रूपी आलोचक के प्रहार झेलकर भी जीवित रह सकें. वे उस अश्वत्थ की तरह हैं जिसकी चारों ओर फ़ैली जड़ों के कारण उसे सुखाना दुष्कर है.

"मैंने पानी पर नहीं
पत्थर पर लकीरें खींची हैं
अपने हृदय का बूँद-बूँद रक्त देकर
इस अश्वत्थ की जड़ें सींची हैं
तुम इसे सुखा नहीं सकोगे"
(ग्रं. २, पृ. १८)

कवि : कविता

वास्तव में आधुनिक युग में कविता और कवि, दोनों का अवमूल्यन हो गया है. ऋग्वेद में कवि शब्द कई महिमा-मंडित अर्थों में प्रयुक्त हुआ है. कवि अग्नि है, सोम है, मेधावी है, वेद-मंत्रों का गायक है, अनूचान (वेदों के रहस्य को जाननेवाला) है, वेदज्ञ है, अध्वर्यु और क्रान्तदर्शी है. ऋग्वेदकाल का कवि अन्वेषक था. उसने अग्नि और सोमरस का अन्वेषण किया. उपनिषद् युग में वह कवि ब्रह्म बन गया.

"कवयः क्रान्तदर्शिनोऽध्वर्यादवः" -सायण
"स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणं
अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धमं
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः
याथातथ्यतोऽर्थान् व्यवदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः"
(ईशावास्योपनिषद्)

ब्राह्मण और उपनिषद् ने प्राक्तन कवियों का स्मरण आप्त पुरुष के रूप में किया है. अग्निपुराण उसे प्रजापति के समान सम्मान देता है

"ये वै विद्वान्सते कवयः"

(शतपथ, १/१०४/४)

"सुस्रुवांसौ वै कवयः"

(तैत्तिरीयोपनिषद्, ३/२/२३)

संस्कृत कवि ने कभी भी अपने राजा के अनुरंजन के लिए काव्य-सृजन नहीं किया. कवि का स्थान राजा से भी ऊँचा था.

"आदिराजयशोबिम्बमादर्शं प्राप्य वांग्मयं
तेषामसन्निधानेऽपि न स्वयं पश्य नश्यन्ति"

(दंडी, काव्यादर्श, १/५)

अर्थात् प्राचीन काल के राजा विनाश को प्राप्त हो चुके हैं पर उनका यश काव्यरूपी दर्पण में सुरक्षित है.

कालिदास और भर्तृहरि के अनन्तर या उनके ही लगभग कवि का विराट् व्यक्तित्व समाप्त हो चुका था. आश्रयदाता राजा की प्रशंसा करनेवाले कवि के पराश्रित व्यक्तित्व का उदय हो चुका था. कालक्रमेण यह कवि-पदवी हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में राजाश्रित होकर और अधिक अवमूल्यन को प्राप्त होती गयी.

आधुनिक काल में कवि स्वतंत्र है. इस स्वतंत्रता का अर्थ उसने उच्छृंखलता लगाया और काव्य-जगत में मनमानेपन का दौर शुरु हुआ.

"कभी कविता का युग था

. . .

कभी कवि का युग था

. . .

अब तो क्या कविता! क्या कवि!
धूमिल हो चुकी है दोनों की छवि"
(ग्रं. २, पृ. १६७)

आधुनिक कविता के सिद्धांत इतने लचीले हो गये कि आलोचना के विशेष मापदंडों के अभाव में कविता के क्षेत्र में सर्वत्र अराजकता फैल गयी. कवि, पाठक और आलोचक, तीनों ही अपने कर्त्तव्य कर्म से विमुख से दिखते हैं.

"न उसके माप-तौल का कोई बटखरा है
न पैमाईश का कोई मीटर
जाने, सुने, समझे उसे कौन,
यही प्रश्न है!"
(ग्रं. २, पृ. १६८)

योग्य पाठकों का ही नहीं, कवियों तथा आलोचकों का भी अभाव है. कवि को केवल कवि ही सुनता है. वह काव्य के रसपान के लिये नहीं बल्कि दोष-दर्शन केलिये, मल्ल की तरह भिड़ने के लिए, अपनी कविता सुनाने के लिए कविता सुनता है.

"अर्जुन-से धैर्यवान श्रोता की तलाश में
हर मुरलीवादक यहाँ कृष्ण है
पहलवान ही पहलवान से लड़ता है
आज तो केवल कवि ही कवि को सुनता है
कवि ही कवि को पढ़ता है"
(ग्रं. २, पृ. १६८)

कवि सम्मेलनों में समाँ बाँध देनेवाली कविताओं में स्वरों का कितना योगदान था यह उन्हें पढ़ने पर पता चलता है.

"हम तो काँटे ही चुनते हैं

मिले फूल-फल उन्हें, लोग
जिनकी पिकध्वनि सुनते हैं
जैसा अवसर वैसा गायें
श्रोता क्यों ताली न बजायें!
हम तो बस उनकी रचनाएँ
पढ़कर सिर धुनते हैं
तिकड़म, दलबन्दी, विज्ञापन
दंभ, चाटुकारी, जनरंजन
धन्य वही कवि, इनसे प्रतिक्षण,
जो तानें बुनते हैं"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. १८२)

प्रत्येक युग में ऐसा होता आया है और श्रेष्ठ काव्य इनसे उभर कर जीवित बना रहा है. गुलाबजी की काव्यसाधना ऐकान्तिक है. शारदा-मन्दिर के पुजारीरूपी आलोचकों की उपेक्षा तथा भक्तगणरूपी सहृदयों की अनुपस्थिति से अविचलित, निरपेक्ष वे एक निष्काम कर्मयोगी की तरह अपनी काव्यसाधना में अविरत लगे रहे.

"मन्दिर शून्य पुजारी सोये
पर मैंने पल व्यर्थ न खोये
सारे बिखरे भाव सँजोये
गीत-हार पहनाकर तुझको, घर को रुख़ मोड़ा है
हाथ से साज़ नहीं छोड़ा है"
(ग्रं. १, पृ. ३४४)

उन्हें प्रशस्ति की परवाह नहीं क्योंकि वे जानते हैं कि कवियों को प्रशस्ति मृत्योपरांत ही मिलती है.

"अभी तो राह में काँटे बिछा रहा है, गुलाब!
कभी ये बाग तुझे देखने को तरसेगा"
(ग्रं. ३, पृ. ३४८)

काव्य-रचना और ईश्वरीय कृपा

प्रतिभा (शक्ति), निपुणता, अभ्यास आदि काव्य-हेतुओं में प्रतिभा ही ईश्वरप्रदत्त होती है. अन्य का तो अर्जन मनुष्य स्वयं करता है. गुलाबजी इन काव्य-हेतुओं का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी ईश्वरीय कृपा पर बहुत बल देते हैं. अपनी प्रारंभिक कविता में वे माँ शारदा से वाणी का वर माँगते हैं तथा स्वीकार करते हैं कि भगवान के प्रेम के परिणामस्वरूप उनको अभिव्यक्ति का वरदान मिला है.

"वाणी का वर दो

. . .

मुझको जीवन की वाणी दो,
जीवन के स्वर दो"
(ग्रं. १, भाग १, पृ. ४१)

"यह जो तुझे अभिव्यक्ति का वरदान मिला है
यह मेरे प्रेम का ही तो प्रमाण मिला है"
(ग्रं. २, पृ. ७६)

प्रारंभ में कवि को लगता था कि काव्य-क्षमता ईश्वरीय देन है किन्तु काव्य-रचना स्वयं कवि का योगदान है.

"तूने मुझे फूल दिये
और मैंने माला गूँथकर
तुझे पहना दी"
(ग्रं. २, पृ. ५१)

वे सृजन का श्रेय कवि को देकर उससे मंगल-काव्य की अपेक्षा करते हैं. उनके अनुसार काव्य-प्रेरणा भी ईश्वर की कृपा से होती है. काव्य-सृजन प्रभु का कार्य है. अतः इसके लिये कवि को सचेत रखना भी प्रभु का ही उत्तरदायित्व है. उनका अनुग्रह सदा बना रहने से ही कवि की वीणा मुखरित रहती है.

"तार न हो नीरव
उँगलियों को फेरा कर
कर रहा हूँ मैं काम तेरा,
तू मेरा कर"
(ग्रं.३, पृ.३७५)

धीरे-धीरे उन्हें ऐसा आभास होने लगा कि उनके काव्य-सृजन का भी सूत्रधार और कोई है, वे स्वयं नहीं. स्वतन्त्रचेता कवि भी ईश्वर के हाथ की कठपुतली है; नाचना उसकी मजबूरी है, स्वभाव नहीं.

"मैं तो बाँसुरी में
केवल फूँक मारता हूँ
उँगलियाँ तो तेरी ही चलती हैं
मेरी नहीं
तेरी मनचाही रागिनियाँ ही
इसके अंदर से निकलती हैं."
(ग्रं. २, पृ. १८७)

यह संस्कारी मन की आस्तिकता नहीं, आजीवन अनुभव की कमाई है. कवि को लगता है कि उनका काम तो केवल लेखनी उठाना, तूलिका घुमाना है. भाँति-भाँति के भाव-बिन्दुओं और रंग-बिरंगी आकृतियों को उभारनेवाला तो कोई और है.

"मैं तो केवल लेखनी उठाता हूँ,

भाँति भाँति के भाव-बिन्दुओं को
उतारनेवाला तो तू ही है;
मेरी रचनाओं में मेरा क्या है,
जो कुछ है तेरी ही कृपा का फल है!
कागज पर छपे शब्द तो
निर्जीव उपकरण मात्र हैं,
मेरे पास तो एक तेरे
प्रेम का ही बल है!"
(ग्रं. २, पृ. १८८)

परवर्ती काल में उन्हें यह भी सन्देह होने लगा कि जिसे वे प्रतिभा, प्रेरणा आदि समझते थे उनका अस्तित्व भी है या नहीं. कहीं यह केवल ईश्वरीय कृपा ही तो नहीं जिसने उन्हें कवि के उच्च आसन पर बैठाया है.

"मैं अब तक जान नहीं पाया हूँ
कि तेरा मन रखने को ही
सबने मुँह से उसे सराहा था
या उसमें कोई ऐसी बात भी थी
जिसे हर देखनेवाले ने
मन से भी चाहा था."
(ग्रं. २, पृ. १४५)

गीता में वर्णित "तेजः तेजस्विनामहं" की तरह उन्हें भी अपनी तेजस्विता में भगवत्साक्षात्कार होता है. वे पाते हैं कि उनका अपना तो कुछ भी नहीं. वंशी, उसका सुरीला स्वर, तथा मनमोहक धुन, सभी तो उस अलक्ष्य वादक की है.

"ओ मेरी वंशी के वादक
तेरी ये ध्वनियाँ उन्मादक
ले आयी थी मुझे जहाँ तक

उसके आगे तो मैंने
तिल भर उँगली न हिलाई"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. ८२)

नयी राहें तथा मंजिलें भी ईश्वर ही दिखाते हैं. गत्यावरोध होने पर कवि अपनी विवशता प्रकट करते हैं.

"लिखूँ क्या, जब तक तू न लिखाये!
कैसे चलूँ, धरे ऊँगली यदि
शिशु को माँ न चलाये!"
(ग्रं. १,भाग २, पृ. २८३)

गुलाबजी अपने काव्य में ईश्वरीय कृपा की महत्त्वपूर्ण भूमिका स्वीकार करते हैं. यही भाव आगे जाकर भक्ति-भावना में परिवर्तित होकर 'भक्ति-गंगा' में समाहित हो जाता है. कवि के अनुसार स्वयं ईश्वर ही कविता के रूप में अवतरित होते हैं.

"जब भी मैंने खींची रेखा
पास खड़े तुझको ही देखा
मेरे जीवन का यह लेखा
तूने लिखवाया है"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. १५३)

जीवन

गुलाबजी की रचनाओं में जीवन और जगत के नाना रूपों पर स्वतंत्र चिन्तन यत्र-तत्र विखरे मिलते हैं. इनमें हमें कवि की उस छवि के दर्शन होते हैं जो हममें से एक होकर भी हमसे अलग है.

आत्मा

कवि की आत्माविषयक धारणा भारतीय मानस में वर्णित धारणा से भिन्न नहीं है. वह अजर, अमर, अविनाशी है. जन्म, मृत्यु, बालावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था आदि विकार शरीर के हैं. आत्मा इन सबसे अछूती रहती है. अज्ञानवश स्वयं को विनाशशील समझकर ही आत्मा बेचैन होती है. ज्ञानस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति में ही इसे शान्ति मिल सकती है. किन्तु कवि और दार्शनिक में अन्तर होता है. गीताकार आत्मा की अमरता प्रस्थापित करके मृत्यु का शोक न करने की प्रेरणा देते हैं किन्तु कवि के मन में प्रश्न उठता है.

"माना कुछ नष्ट नहीं होता है
पर क्या बिछुड़ने में कष्ट नहीं होता है?"
(ग्रं. २, पृ. ११४)

यह एक कवि और ज्ञानी के दृष्टिकोण का अन्तर है. कुछ भी नष्ट न होने पर भी हमारी भावना में तो अन्तर आ ही जाता है और कवि के लिए भावनाएँ ही प्रमुख है.

"सलिल चाहे लौटता हो बार–बार
ज्वार वही लौट नहीं पाता है"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. ८४)

गुलाबजी 'आत्मन्येवात्मना तुष्टः' की तरह आत्मिक आनन्द की तुलना में सांसारिक उपादानों और उपलब्धियों को तुच्छ मानते हैं.

"मैंने सूरज से आँखें मिला रखी है
जुगनुओं से उजाले की भीख
मैं क्यों माँगूँ
मैंने आकाश की नील शिला पर
अपने हस्ताक्षर टाँक दिये हैं
छपे हुये काग़ज़ के टुकड़े
मेरा क्या मोल बढ़ाएंगे"
(ग्रं. २, पृ. २०१)

शरीर से वियुक्त होकर आत्मा या तो पुनर्जन्म ग्रहण करती है या परमात्मा में विलीन होकर जन्म–मरण के पचड़े से सदा के लिए मुक्त हो जाती है. भक्त कवियों ने मुक्ति से अधिक प्राधान्य भक्ति को दिया है. वे प्रार्थना करते हैं कि इस लोक में उन्हें बार–बार जन्म मिले ताकि वे भक्ति का आनन्द उठा सकें. गुलाबजी का मानना है–

"मुक्ति की बातें निरी ढोंग हैं
चाहते जीना सब लोग हैं"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. ३५०)

उनकी दृष्टि में मुक्ति एक दिमागी आलस्य, निकम्मापन या शून्यता है जो कर्मठ व्यक्तियों तथा सन्तों को प्रेय नहीं.

"मुक्ति तुलसी ने सदा त्यागी थी
मुक्ति गाँधी ने नहीं माँगी थी

मैं तो मरने से नहीं डरता हूँ
मुक्ति के नाम से सिहरता हूँ"
(ग्रं. १, भाग १, पृ. ३५१)

गुलाबजी भी पुनर्जन्म को मुक्ति से श्रेष्ठ मानते हैं पर कभी-कभी उन्हें कौतुक-सा लगता है कि पीढ़ियाँ दर पीढ़ियाँ क्या पुनर्जन्म के चक्कर में ही गोल-गोल घूम रही हैं या ऊपर कहीं पहुँची भी! वे पुनर्जन्म पर तर्क करते हुए कहते हैं.

"पुनर्जन्म में शंका व्यर्थ है
मरते ही समाप्त हो जाये
जीवन इतना असहाय नहीं है
हमारा सारा लिया-दिया, किया-कराया
व्यर्थ और निरभिप्राय नहीं है"
(ग्रं. २, पृ. ८५)

भाग्यवाद

पुनर्जन्म का सिद्धान्त कर्मवाद पर टिका हुआ है. क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध, इन तीन प्रकार के कर्मों में निष्काम कर्म के द्वारा पहले दो प्रकार के कर्म नष्ट हो जाते हैं किन्तु प्रारब्ध कर्म का फल तो भोगना ही पड़ता है. इसके लिए अगला जन्म अनिवार्य हो जाता है. इस जन्म में भी तो हम पिछले जन्मों का फल भोग रहे होते हैं.

"किसी दिलजले ने यों जलते
रहने के अभिशाप दिये थे
जाने उस जीवन में मैंने
कौन-कौन से पाप किये थे"
(ग्रं. १, भाग १, पृ. ३६१)

"लाया लिखा जो भाल पर
पाता न उसको मेट मैं
हूँ शर-बिँधा आखेट मैं"
(ग्रं. १, भाग १, पृ. ३४८)

प्रारब्ध कर्म ही भाग्य है. भाग्य पर किसी का वश नहीं चलता. यह मनुष्य को जहाँ चाहे उड़ा कर ले जाता है और वह लहर के साथ बहते तिनके की तरह थपेड़े खाने को विवश हो जाता है.

"जोर चलता नहीं किस्मत की हवाओं पे 'गुलाब'
जैसे चलती नहीं तिनके की लहर के आगे"
(ग्रं. ३, पृ. ३१८)

मनुष्य को अपने प्रयासों में सफलता या विफलता भाग्य के निर्देश पर ही मिलती है. वह जहाँ जाता है, उसका भाग्य उसका काम बिगाड़ने या सुधारने केलिये उसके साथ-साथ, बल्कि पहले ही पहुँच जाता है.

"चले जो हम तो चली साथ-साथ क़िस्मत भी
हरेक मुकाम पे पहले ये बेबफ़ा ही गयी"
(ग्रं. ३, पृ. ११४)

"भाग्य पीछे जयन्त के शर-सा
मैं जिधर उड़ा-उड़ा जाता हूँ"
(ग्रं. ३, पृ. ११४)

भाग्यवाद के समर्थन का अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य हाथ पर हाथ धरकर बैठ जाय. पुरुषार्थ तो उसे करना ही है. अन्तर केवल इतना है कि उसका फल मिलने में भाग्य का भी योग होता है.

अपनी उपलब्धियों के गर्व में मनुष्य यह भूल जाता है कि वह केवल निमित्त मात्र है. शतरंज के मोहरों की तरह चालें चलता हुआ वह अपने आप पर मुग्ध होता रहता

है और जीतने का गर्व करता है जबकि सचाई कुछ और ही है.

"य' बाजी कोई और ही खेलता है
महज चाल हमसे चलायी गयी है"
(ग्रं. ३, पृ. ३१५)

मनुष्य

संसार के रंगमंच पर मनुष्य जिस वेष को धारण करता है, स्वयं को वही समझने लगता है. वह राजसी पोषाक में गर्व से ऐँठता है तथा भिक्षुक का कटोरा हाथ में लेकर पीड़ा से आक्रांत होता है.

"कभी मैं गर्व से ऐँठता रहा
कभी पीड़ा से चिल्लाता रहा
और नेपथ्य में खड़ा-खड़ा
तू मेरी अज्ञता पर मुस्कुराता रहा"
(ग्रं. २, पृ. १८६)

कैसा है यह मनुष्य! अगणित जीवधारियों में से एक, उन्नत और सभ्य पशु या कुछ और भी? अपने विषय में उसने जाने क्या-क्या भ्रम पाल रखे हैं! पर विराट् विश्व में उसका अस्तित्व एक नन्हे-से रजकण से अधिक नहीं.

"तू नन्हा कण था शबनम का
ऊँची-ऊँची आशाएँ क्यों
लिये फिरा, बन पुतला भ्रम का
मेरे सपने अब, मुझको ही
दिखा रहे हैं आँख, देखो"
(ग्रं. १, भाग १, पृ. ३६१)

अपने क्षुद्र अस्तित्व के बावजूद मनुष्य के पास सपने हैं. उसका जीवन स्वयं भी स्वप्न के समान ही है.

सपने देखना और उन्हें पूरे करने का प्रयास करना, नश्वर मनुष्य की यही एक आत्मबल-प्रदायक विशेषता हैं.

"हम सब असत्य हैं,
हम सब अयथार्थ हैं
सच पूछो तो हम वही पदार्थ हैं
जिनसे सपने बनते हैं"
(ग्रं. २, पृ. ५४)

मनुष्य में अनन्त संभावनाएँ भरी हैं. आत्मिक बल से दीन और शारीरिक बल से हीन व्यक्ति भी बीज में छिपे वटवृक्ष-सा समर्थ है. वह जल की उस बूँद की तरह है जिसमें सागर के सभी गुण वर्तमान हैं. कवि उसकी महिमा से अभिभूत है.

"तुम अनादि के छंद हो
लघु हो जब तक बंद हो
महाकाश निर्द्वन्द हो
शुद्ध सच्चिदानन्द हो
तुम प्रतिमा भगवान की"
(ग्रं. १, भाग १, पृ. २२०-२२१)

भौतिक जगत में मनुष्य ने बड़ी-बड़ी उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं. विज्ञान के क्षेत्र में उसकी प्रगति ने उसे उन लोकों की सैर करायी है जहाँ कभी केवल कल्पना ही पहुँच सकी थी.

"इन्द्र की अमरावती हो या कुबेर की अलकापुरी
सभी पर मानव के विजय-केतु गड़े हैं
अब हम स्वच्छन्द वहाँ विचरण करते हैं
जहाँ पहले फ़रिश्ते भी पाँव नहीं धरते थे"
(ग्रं. २, पृ. १६०)

मनुष्य शारीरिक स्तर पर पशु है और आत्मिक स्तर

पर देवता. उसमें दोनों की प्रवृत्तियाँ दिखायी देती हैं. मिट्टी से जन्म लेने के कारण उसके ऊपर उठने के प्रयास में मिट्टी उसके पाँवों को जकड़ लेती है पर वह सदा असत् से सत् की ओर, तमस् से ज्योति की ओर तथा मृत्यु से अमरत्व की ओर प्रयासोन्मुख है. प्रयास का बहुत महत्त्व है. उच्च लोकों में निवास करनेवाली महान आत्माएँ भी अपने प्रयास द्वारा ही उस ऊँचाई पर पहुँची थीं.

"इसलिए सतत चेष्टा करते रहो,
स्वर्ग के कपाट खुलकर रहेंगे,
आकाश के देवता भी यही देखने को,
तुम्हारी ओर टकटकी लगाए हैं
कि कैसे तुम उठ-उठकर गिरते हो
गिर-गिर कर उठते हो!
इसी तरह उठते-गिरते ही
हम भी यहाँ तक पहुँच पाए हैं!"
(ग्रं. २, पृ. १६५)

कवि मनुष्य को जय-पराजय, भले-बुरे, सफलता-असफलता के मानदंडों पर नहीं तौलते. उनकी दृष्टि में मनुष्य का महत्त्व सर्वोपरि है. उसका स्थान सांसारिक उपलब्धियों से ऊपर है.

"फिर भी मेरी पराजय का यह खँडहर
विजय के गगनचुंबी स्मारकों से बड़ा है
क्योंकि पत्थर की मूर्तियों के स्थान पर
इसमें एक जीवित मनुष्य खड़ा है"
(ग्रं. २, पृ. १९५)

"भला भले को, बुरे को बुरा समझते हैं
हम आदमी को ही लेकिन बड़ा समझते हैं"
(ग्रं. ३, पृ. २०९)

प्राणी–वर्ग में मनुष्य की विशिष्टता का प्रमाण यह है कि स्वयं भगवान को भी धरती पर आने के लिये मनुष्य का रूप धारण करना पड़ता है.

"कृष्ण बन, राधा बन
पूरा या आधा बन
जीवन की कोई अभिव्यक्ति बनके आ
व्यक्ति बनके आ"
(ग्रं. २, पृ. ४७)

अपने अन्दर छिपी चिन्तन–शक्ति तथा इच्छा–शक्ति के कारण प्राणी वर्ग में मनुष्य अति विशिष्ट है.

"कुछ तो है और भी इन खाक़ के पुतलों में ज़रूर
हो के जुगनू भी सितारों से बात करते हैं"
(ग्रं. ३, पृ. ३५४)

"यों तो हैं ख़ाक़ के पुतले ही हम मगर ऐ दोस्त
आग से खेल सका कौन है हमारे सिवा!"
(ग्रं. ३, पृ. ३४२)

मनुष्य प्रकृति के जड़ नियमों से स्वच्छन्द है. कवि उसे देवता से भी अधिक महत्त्वपूर्ण मान कर सम्मान देते हैं.

"मैं इन चाँद, सूरज और तारों से बड़ा हूँ.
ये सब–के–सब
परवश यन्त्रों की तरह
एक निर्दिष्ट घेरे में घूम रहे हैं
जब कि
मैं अपनी इच्छा से
कभी दौड़ता हूँ, कभी खड़ा हो जाता हूँ,
कभी लम्बी ताने पड़ा हूँ"
(ग्रं. २, पृ. १९७)

मिले जो देवता हमको तो आदमी बन जाय"

(ग्रं. ३, पृ. २३१)

यह एक विडम्बना है कि श्रेष्ठ गुणों के साथ-साथ मनुष्य में विनाशक प्रवृत्तियाँ भी विद्यमान होती है. वह विकास के लिये अर्जित शक्तियों का प्रयोग विनाश में कर बैठता है और प्रगति के मार्ग पर दो क़दम आगे बढ़कर एक क़दम पीछे हट जाता है.

"निसर्ग को भुजा किये अनन्त कूप में गिरा
विकास प्राण में लिये विनाश ढूँढता फिरा"

(ग्रं. ४, पृ. १५७)

बाहरी शत्रुओं पर विजय पानेवाला स्वतन्त्र और शक्तिमान मनुष्य भस्मासुर की तरह स्वयं अपने आप से हार जाता है.

"हरा मनुष्य ने दिया सुरेश, सूर्य, सोम को
स्वहस्त-न्यस्त सा किया धरा, समुद्र, व्योम को
परन्तु हारता गया स्ववृत्ति के प्रभाव से
स्वदेश से, स्वजाति से, स्वबन्धु से, स्वभाव से"

(ग्रं. ४, पृ. १५६)

"मैं सोच रहा सभ्यतादीप्त
मानव-जग भी न प्रवृत्ति-दास!"

(ग्रं. १, भाग १, पृ. १४१)

स्वभाव का ही दूसरा नाम प्रकृति है. प्रकृति के तीन गुण हैं, सत्, रज तथा तम. मनुष्य की प्रकृति में विभिन्न समय पर विभिन्न गुण उभरते हैं. इन्हीं के प्रभाव से व्यक्ति के अच्छे तथा बुरे कार्य निर्धारित होते हैं तथा वह प्रशंसा या निन्दा का पात्र बनता है.

जीवन : मरण

धरती एक जीवित ग्रह है. अपने विस्तृत अर्थ में जीवन इसमें सर्वत्र विद्यमान है. जीवन नाम है जीवनी–शक्ति का, जिजीविषा का. मौत के साये में रहकर भी जीवन अपनी शक्ति के बल पर बना रहता है, झुकता नही.

"मौत आँखें दिखाती रही
ज़िन्दगी मुस्कुराती रही"
(ग्रं. ३, पृ. २०५)

प्रकृति में सदा विनाश का तांडव और सृष्टि का लास्य चलता रहता है. घोर विनाश के बाद भी जीवन की दूर्वा लहलहा उठती है. बुझकर भी न बुझनेवाली, मरण से भी न हारनेवाली जीवन–सत्ता दुर्निवार है. मौत की आँधियाँ इसे बुझाने में असमर्थ है.

"शत प्रलय उठे, मैं झुकी नहीं
दृढ़ लिए अमरता का विचार
मैं जीवन सत्ता दुर्निवार"
(ग्रं. ४, पृ. १७५)

मरण के चरणतले भी जीवन पलता रहता है. एक ओर से दमित होकर दूसरी ओर से उठ खड़ा होता है. उसका अंत नहीं होता, वह केवल रूप बदलता है. शरीर पंचमहाभूतों के संश्लेष से बनता तथा विनष्ट होता रहता है किन्तु जीवन का प्रवाह रुकता नहीं.

"जीवन तो केवल प्रवाह है
सलिल नहीं है, यह न लहर है
झंझा नहीं, न बुद्‌बुद् भर है
इन सबसे जो हुई मुखर है
एक सतत अव्यक्त चाह है"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. ७८)

जीवन के प्रवाह की राह में मृत्यु के पड़ाव आते रहते हैं. यह उन पड़ावों को पार करता आगे बढ़ता जाता है, न रुकता है, न पीछे मुड़ता है. वह परिवर्तनशील है पर किनारे पर आकर लौटती लहर की तरह उसे भी बाँधा नहीं जा सकता.

"सरिता नहीं ठहरती तट पर
पनघट से जाती मरघट पर"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. १०५)

"जीवन स्रोत गया कब बाँधा
लाख लिपटकर रोये राधा"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. ६०)

जीवन को परिभाषित करना अत्यन्त कठिन है. व्यक्ति-भेद और परिस्थिति-भेद से जीवन के अर्थ में भी अंतर आ जाता है. किसीके लिए साँसें लेना तो किसीके लिए दो वक़्त की रोटी जीवन है. किसीके लिए जीवन का अर्थ प्रेम है तो किसीके लिए शान्ति. कोई इसकी सार्थकता स्वप्नपूर्ति में मानता है तो कोई सम्मानप्राप्ति में. बीज के लिए जीवन का अर्थ अंकुरित होना है तो पुष्प डाल पर रहने के कष्टों से थक चुका होता है. जीवन का रहस्य दोनों ने नहीं जाना.

"इतने में वर्षा का झोंका आया
बीज अंकुर बन कर फूट गया
फूल अपनी डाल से टूट गया
जीवन का रहस्य कोई जान नहीं पाया"
(ग्रं. २, पृ. ६१)

अपने विस्तृत अर्थ में जीवन कभी समाप्त न होनेवाली एक श्रृंखला है तो सीमित अर्थ में वह तुच्छ, क्षणभंगुर तथा नश्वर है. जीवन के गूढ़ रहस्य को समझने

में ही जीवन बीत जाता है. जल की रेखाओं की तरह बनते-बिगड़ते जीवन का क्या मूल्य है!

"जीवन तो ताशों का घर है,
बनते-बनते ढहता जाता
जीवन तो तितली का पर है,
पल भर भी न पकड़ में आता
जीवन ऐसा लेख, कि
लेखक की ही नहीं समझ में आता
ज्यों-ज्यों आगे लिखता हूँ मैं,
त्यों-त्यों पीछे मिटता जाता"
(ग्रं. १, भाग १, पृ. ३५१)

हमने अपनी सुविधा के लिए काल का विभाजन भूत, भविष्य और वर्तमान में कर लिया है. इनमें से भूतकाल का संबंध हमारी स्मृतियों से होता है. भविष्य की सुखद कल्पना और अरमान जीवन में सजगता लाते हैं. वर्तमान तो ऐसी क्षीण रेखा पर अवस्थित है कि जब तक उसका अनुभव हो, वह भूतकाल में बदल जाता है. अतः मनुष्य के लिए जीवन का अर्थ कुछ स्मृतियाँ और कुछ अरमान ही रह जाते हैं. स्मृतियों के भंडार को देखकर ऐसा लगने लगता है कि हमने जीवन नहीं जिया, कोई सपना देखा था.

"परन्तु अब तो यहाँ नदी भी नहीं, महल भी नहीं
राजकुमारी भी नहीं;
मैंने कोई सपना तो नहीं देखा था!"
(ग्रं. २, पृ. ११२)

उपलब्धियाँ

जैसे सपने में देखे गए दुःख-सुख, हानि-लाभ

आदि सब जागने पर झूठे सिद्ध होते हैं उसी प्रकार आत्मचिन्तन के प्रकाश में संसार के सभी कार्य-व्यापार मिथ्या प्रमाणित होते हैं. इस ज्ञान से व्यर्थता-बोध जगता है.

"जन्म सोने की घड़ी है, मृत्यु जगने की घड़ी
बीच में लघु स्वप्न का व्यवधान देती है"
(ग्रं. ३, पृ. ११९)

"हमारा आना
कुछ देर को ठहरना और फिर चले जाना
क्या सचमुच व्यर्थ नहीं है!"
(ग्रं. २, पृ. ८५)

जीवन की सभी भाग-दौड़ खोखली और निरर्थक लगती है. एक मृगतृष्णा में मनुष्य दौड़ता रहता है. वास्तव में जीवन को समझने और पकड़ने का प्रयास वैसा ही है जैसे पारे को पकड़ने की चेष्टा करना.

"मैं इसे छू भी न पाता हूँ, पकड़ लूँ कैसे!
अन्य का है, न तो मेरा न तुम्हारा, जीवन"
(ग्रं. ३, पृ. ११६)

"एक मृगतृष्णा जो पलभर भी न देती है विराम
एक परिणाम-रहित दौड़ है सारा जीवन"
(ग्रं. ३, पृ. ११७)

जीवन की उपलब्धियों की क्या सार्थकता है? इनका मूल्य हम अमूल्य समय से चुकाते हैं. अंत में पता चलता है कि जितना हमने पाया है, उससे अधिक लुटाया है. हम जीत नहीं रहे, हार रहे हैं.

"कट चुकी है पतंग तो कब की
किन्तु हम डोर धरे बैठे हैं"
(ग्रं. ३, पृ. ११३)

"दिन बीतते जा रहे हैं;
हर कदम पर हम हार रहे हैं
और समझते हैं
कि जीतते जा रहे हैं"
(ग्रं. २, पृ. १९४)

"जीवन हमें इठलाने का अवसर नहीं देता है
जितना वह एक हाथ से देता है
उससे अधिक दूसरे हाथ से छीन लेता है"
(ग्रं. २, पृ. २४०)

मनुष्य प्राप्य की अवहेलना करके अप्राप्य के पीछे भागता है. प्राप्य का मूल्य वह जानता नहीं और अप्राप्य उसे मिलता नहीं. जीवन भोग में है या त्याग में, वह निश्चित नहीं कर पाता.

"जीवन क्या है!
प्राप्त को त्यागते जाना
अप्राप्त के पीछे भागते जाना"
(ग्रं. २, पृ. २४०)

कर्म

जीवन की परिभाषा की तरह उद्देश्य की परिकल्पना भी व्यक्ति-विशेष के अनुसार बदलती रहती है. मनुष्य क्यों जीता है? क्या यह केवल साँसों का लोभ है? वह क्या आकर्षण है जो भक्त कवियों को मुक्ति तक से विरत कर देता है? जिस उद्देश्य केलिए आजीवन प्रयास किया जाता है, वह पूरा न होने पर क्या सब कुछ व्यर्थ हो जाता है? जीत की खुशी और हार का दुःख क्या साधना से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं? गुलाबजी के अनुसार मानव के प्रयासों की महत्ता अथवा साधना के सम्मुख साध्य या लक्ष्य गौण पड़

जाता है.

"महत्त्व लक्ष्य तक पहुँचने का नहीं
लक्ष्य तक बढ़ते जाने का है
अँधेरे पर विजय पाने का नहीं
अँधेरे के आगे सिर न झुकाने का है"
(ग्रं. २, पृ. २०६)

हार-जीत से निरपेक्ष, अडिग आस्था के साथ उच्च लक्ष्य की ओर बढ़ना अपने आप में एक उपलब्धि है. सागर को मीठा करने के प्रयास में गंगा को सफलता नहीं मिली तो क्या उसका प्रयास व्यर्थ गया?

"सागर मधुर मत हो
धरती तो उससे नया जीवन पायेगी"
(ग्रं. २, पृ. २५७)

"आस्था को हार-जीत से उदासीन रहना होगा
मात्र सत्य के प्रति समर्पित रहकर
परिणाम की चिन्ता से मुक्त रहना होगा"
(ग्रं. २, पृ. २२४)

गीता भी तो कर्मों से मुक्ति के लिए निष्काम कर्म करने का संदेश देती है, अकर्म का नहीं. क्रियाशीलता ही जीवन है.

"ओ मेरे मन!
अकेला तू ही विश्राम क्यों माँग रहा है
यह चाँद, यह सूरज, यह तारा-मंडल
क्या इनमें से प्रत्येक अहर्निश नहीं जाग रहा है!
निरन्तर किसी अज्ञात लक्ष्य की ओर
नहीं भाग रहा है!"
(ग्रं. २, पृ. २१५)

जीवन–कला

जीवन हानि–लाभ, सुख–दुःख, घृणा–प्रेम आदि परस्पर विपरीत परिस्थितियों का पुंज है. एक की अवस्थिति से दूसरी सह्य होती है. प्राप्त और अप्राप्त, कठिनाइयाँ और आशाएँ आदि विरोधी घटक वस्तुतः जीवन में संतुलन लाते हैं.

"ज़िन्दगी हमको पिलाती है ज़हर के प्याले
और पायल भी बजाती है हर क़दम के साथ"
(ग्रं. ३, पृ. २९०)

ध्यान से देखा जाय तो दुःख का परिमाण सुख की अपेक्षा अधिक है. सुख की कीमत कई गुना दुःख सह कर चुकानी पड़ती है. दुःखों के मध्य जो सुख की झलकियाँ मिलती हैं, याद आने पर वे भी दुःखकारक हो जाती हैं. मनुष्य को चाहिए कि दुःख को एकमात्र सत्य मानकर उसे स्वीकार कर ले.

"एक सुख में लिपटे दुःख लाख
यही जीवन का शाश्वत रूप"
(ग्रं. ४, पृ. १४५)

"दुःख ही सत्य है,
शेष जो कुछ है, कठपुतलियों का नृत्य है"
(ग्रं. २, पृ. ६२)

"दुःख सहने को बना मनुज
क्यों सुख का हो अभिलाषी"
(ग्रं. १, भाग १, पृ. ३५७)

जीवन एक कला है. अमूर्त कला की तरह जीवन का अर्थ भी हर व्यक्ति के लिए अलग होता है और इसे पूर्णतः समझ पाना किसी के लिए भी असंभव है. इस कला को समझने और जीना सीखने तक तो जीवन ही

समाप्त हो जाता है और दूसरा मौका भी नहीं मिलता.

"लौटकर जानेवाली लहर
दुबारा नहीं आती है
यह बाजी तो केवल एक बार ही खेली जाती है."
(ग्रं. २, पृ. १९०)

"पहले तो जीवन के अनमोल मोती
हम दोनों हाथों से
लुटाते हैं
और फिर आयु के शेष दिन
उनमें से एक-एक को चुनने में बिताते हैं"
(ग्रं. २, पृ. २५०)

जीवन कैसे जिया जाय इसके लिये गौतम बुद्ध ने मध्यम मार्ग का उपदेश दिया था. वीणा के तारों को न इतना कसना चाहिए कि वे टूट जायँ न इतना ढीला ही छोड़ना चहिए कि वे बेसुरे हो जायँ. जीवन के साथ भी यही लागू होता है.

"कसो तो ऐसे कि जीवन के तार टूट न जायँ
पड़े जो चोट कहीं पर तो रागिनी ही ढले"
(ग्रं. ३, पृ. २३२)

जीवन का उपभोग व्यक्ति अपनी ग्राहिका शक्ति के आधार पर करता है. एक जैसी आर्थिक, सामाजिक परिस्थिति में जीवन बिताने पर भी जीवन एक जैसा हो, यह आवश्यक नहीं. व्यक्ति का दृष्टिकोण ही जीवन की गुणवत्ता को बनाता है. एक ही बाग़ में किसीको फूल ही फूल और किसी को काँटे ही काँटे दिखते हैं. व्यक्ति अपनी क्षमता और रुचि के आधार पर जीवन का आस्वाद करता है. ज्ञान, भावना और कामना के विभिन्न स्तरों पर जीनेवाले को जीवनरूपी प्याले से क्रमशः अमृत, मधु और विष मिलता

है.

"कुछ ज्ञान, कुछ भावना
और कुछ केवल इच्छा के स्तर पर जीते हैं
प्याला तो एक ही है
पर कुछ उससे अमृत
कुछ हाला
और कुछ हलाहल पीते हैं."
(ग्रं. २, पृ. २४२)

वस्तुतः सुख वस्तुनिष्ठ नहीं, व्यक्तिनिष्ठ होता है. भावना से समृद्ध व्यक्ति को अभाव नहीं सताते. अप्राप्य के लिए शोक करने के बदले वह प्राप्त का मूल्य समझ कर सन्तुष्ट तथा सुखी हो सकता है और जीवन को परिपूर्णता से जी सकता है.

"तेरे हाथ में प्याला तो है
क्या हुआ जो प्याले में हाला नहीं है
भावनाओं में जीता जा
आप अपने को ही पीता जा"
(ग्रं. २, पृ. १९१)

जीवन की गहराई तथा विस्तार में क्या अधिक मूल्यवान है? दिनों की गिनती या क्षणों की परिपूर्णता में महत्त्वपूर्ण क्या है?

"इससे क्या अन्तर पड़ता है
कि प्याला मेरे होठों से नहीं लगा
कि मेरे हाथ से छलक-छलक कर रीत गया"
(ग्रं. २, पृ. १९१)

मनुष्य कभी सुख की चादर लिये सोता है तो कभी दुःख की गागर लिये रोता है. जीवन की राह में ये दोनों ही ध्येय से विचलित करनेवाले घटक हैं.

"बहुत फूँक-फूँक कर ही
इस बाग़ में चलना है
केवल काँटों से ही नहीं
फूलों से भी बचकर निकलना है"
(ग्रं. २, पृ. २५२)

परमात्मा के वरदानस्वरूप जीवन में सबसे बड़ी वस्तु शान्ति है. संतोष से बढ़कर धन नहीं. ऐसे में बड़े-छोटे का, ऊँच-नीच का भेद-भाव तथा अपनी श्रेष्ठता की घोषणा करना कितना तुच्छ और हास्यास्पद लगता है!

"फूल बोला, वसन्तश्री हूँ मैं
कोकिला ने कहा, बड़ी हूँ मैं
धूल पतझड़ की उड़ी इठलाती
देख, सब ओर उड़ रही हूँ मैं"
(ग्रं. ३, पृ. ११८)

जीवन : व्यवहार

जीवन की सार्थकता संसार को पहले से अधिक सुन्दर और सुखी बनाने में है. व्यक्ति केलिये भी वही सच है जो फूल केलिए.

"उसका खिलना व्यर्थ नहीं है
यदि पल दो पल भी उसने
किसीका रूप सँवार दिया है"
(ग्रं. २, पृ. ५२)

जीवन में लौकिक ज्ञान का भी बहुत महत्त्व है. कहावत कि वास्तविकता के कठोर स्पर्श से सारा तत्त्वज्ञान भाप की तरह उड़ जाता है. बड़े-बड़े ज्ञान बटोर कर भी व्यावहारिक ज्ञान के अभाव में मात खानी पड़ती है. जैसे सब कुछ सीखकर भी यदि डाँडें चलाना नहीं सीखा तो

व्यक्ति किनारे तक नहीं पहुँच सकता.

"मेरा कुल पढ़ा-लिखा व्यर्थ हो गया
सारा तत्त्व-ज्ञान निरर्थ हो गया
वह जो केवल डाँड़ें चलाना जानता था
पार जाने में समर्थ हो गया"

(ग्रं. २, पृ. २५६)

कटु सत्यों का सामना होने पर मनुष्य को सारे दर्शन और सिद्धान्त ताक पर रख कर विषम परिस्थितियों से समझौता करना पड़ता है.

"ज़हर को पीना ही नहीं, पचाना पड़ता है
अपमान की ठोकरें खाकर भी मुस्कुराना पड़ता है
तब कहीं चिड़िया के घोंसले में
एक दाना पड़ता है"

(ग्रं. २, पृ. २५२)

सबसे अधिक दुःख अपनों से ही मिलता है. हम जिसे प्रिय मानते हैं, वही हमें रुलाता है. भास के अनुसार शत्रु तो केवल शरीर पर वार करते हैं पर अपने तो हृदय पर वार करते हैं.

"शरीरेऽरि प्रहरति हृदये स्वजनस्तथा"

(महाकवि भास, प्रतिमा नाटकम् //१२//पृ.१५)

ऐसी ही कष्टपरक परिस्थिति के विषय मे कवि कहते है.

"अगर बचपन में बाँधी प्रेम की डोर
बच्चे बड़े होकर
अपने कठोर व्यवहार की कैंची से नहीं काट देते
तो अपने ज्ञान और वैराग्य की पूँजी भी
लोग उन्हींको बाँट देते"

(ग्रं. २, पृ. २५३)

जगत

(जगत के विभिन्न रूप तथा कार्य–व्यापार)

संसार

जीवन और संसार का चोली–दामन का संबन्ध है. प्रकृति की रचना यह संसार, जितना सदय और सुन्दर है उतना ही निर्दय और भयावना भी. वास्तव में यह हमारी अपनी मनःस्थिति को प्रतिबिम्बित करता है. हम इसे उसी रूप में देखते हैं जिस रूप में देखना चाहते हैं.

"दुनिया न भली है न बुरी है
वह तो एक पोली बाँसुरी है
जिसे आप चाहें जैसे बजा सकते हैं
चाहे जिस सुर से सजा सकते हैं"
(ग्रं. २, पृ. १४७)

स्व को संकुचित करके एक बिन्दु में समाहित किया जा सकता है और उसका विस्तार करके कण–कण से तादात्म्य स्थापित किया जा सकता है. इसीलिए कहा गया है, "उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकं". थोड़ा ऊपर उठ्कर देखने पर कोई पराया नहीं दिखता, सभी अपने दिखते हैं.

"है न दुनिया में कहीं कोई पराया हमको
जो भी मिलता है उसे अपना बना लेते हैं"
(ग्रं. ३, पृ. २४७)

सीमित अर्थ में जीवन के संदर्भ में दुनिया

परिवर्तनशील है. यहाँ कुछ भी स्थिर नहीं. धन–सम्मान, पद–परिवार, घृणा–प्रेम, शत्रुता–मित्रता – सभी कालान्तर में समाप्त हो जाते हैं. कल का भोगा हुआ सत्य आज स्वप्न सा असत्य लगता है.

"कितनी तेजी से सब–कुछ बदल जाता है!
जैसे कोई बादलों का बहता हुआ बजरा
आँखों के आगे से निकल जाता है
जैसे कोई बर्फ का बना महल
देखते–देखते पिघल जाता है"

(ग्रं. २, पृ. ५३)

परिवर्तनशीलता के कारण संसार अविश्वसनीय, क्षणभंगुर और असार लगता है. अपनी सुषमा से नंदन से होड़ लेनेवाला यह विश्व इसी कारण अपूर्ण लगता है.

"पर पतझड़ की वायु न मानी
तार–तार तरु हुए निमिष में
नश्वरता के अभिशापों से
नंदन एक अपूर्ण रह गया"

(ग्रं. १, भाग १, पृ. १४८)

संसार की यह परिवर्तनशीलता की अनुभूति वैसी ही है जैसी किसी वाहन में बैठ कर यात्रा करते समय यात्री को होती है. वह स्वयं को स्थिर और सामने दौड़ते पेड़–पौधों, नदी–नालों को गतिमान समझता है. वस्तुतः न तो व्यक्ति और न ही वस्तु–जगत दौड़ता है. दौड़ता है यान. गहराई से देखने पर पता चलता है कि–

"बाजी तो वैसी ही बिछी है
खेलनेवाले चले गये!"

(ग्रं. २, पृ. १९४)

व्यक्ति का संसार में रहने का समय बीत जाने पर

समझ में आता है कि–

"दृश्य तो वही है, द्रष्टा नये–नये हैं
दुनिया नहीं चुकती, हमीं चुक जाते हैं"
(ग्रं. २, पृ. १९७)

"प्याला तो अब भी वैसा ही भरा है
हमीं रीत गये!"
(ग्रं. २, पृ. १९४)

कबीरदासजी संसार की व्यर्थता के लिए कहते हैं

"यह संसार झाड़ और झाँखड़,
आग लगे जरि जाना है"

प्रतिक्षण आँखों के सामने से भागती, ओझल होती, परिवर्तित होती दुनिया को गुलाबजी एक ऐसे जलते घर से उपमित करते हैं जिसमें से एक–एक कर सभी भाग रहे हैं. वे इस जलते घर में से जितना कुछ भी हो सके बचाने की चेष्टा मे लगे हुए हैं.

"एक–एक कर छोड़ रहे थे संगी–साथी
आँखों के आगे दुनिया थी भागी जाती
पर हम तो अविचल इस घर में खड़े रहे"
(ग्रं. २, पृ. ८९)

मुग्ध दृष्टि से नंदन–कानन–सा दिखनेवाला यह संसार विवेक–दृष्टि से खँडहर–सा उजाड़ दिखायी देता है. जो बाल–कल्पना छड़ी में घोड़े को देख सकती है, वही इस संसार–रूपी खंडहर में महल का प्रत्यक्षीकरण कर सकती है.

"मेरे चेहरे पर
किसी बच्चे की आँखें लगा दो
ताकि इस खँडहर में मुझे

सोने का महल दिखायी दे"
(ग्रं. २, पृ. १९७)

महर्षि बादरायन का सूत्र 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या माया खलु विवर्तिनी' वेदान्त का आधार है. ब्रह्म ही सत्य है तथा यह जो जगत दिखायी देता है, वह मिथ्या है. ब्रह्म सर्वत्र, सर्वदा है पर उस पर मायारूपी पर्दा पड़ा रहता है. ब्रह्म को विवृत करके जगत के रूप में दिखानेवाली माया है. कवि इस पर्दे को हटाने की, भेद को समाप्त करने की कामना करते हैं

"कुछ ऐसा कर कि संसार में और तुझमें
कोई भेद न रह जाय
रूप रंग रेखाओं की इस धरती से
मैं लिपट जाऊँ
फिर भी मन में खेद न रह जाय"
(ग्रं. २, पृ. ७१)

दुःख : सुख

"चक्रवत् परिवर्तन्ते सुखानि च दुःखानि च"

संसार में दुःख-सुख का क्रम लगा रहता है. दुःख और सुख वास्तव में एक ही सिक्के के दो पहलू हैं. दोनों के मूल में कामना रहती है. काम्य वस्तु या स्थिति की प्राप्ति सुख और अप्राप्ति ही दुःख है. काम्य वस्तु भी प्राप्त होने पर वह सुख नहीं दे पाती जिसकी अपेक्षा रहती है. इस प्रकार सुख की मृग-मरीचिका व्यक्ति को भटकाती रहती है.

"जीवन तममय निशा, सुखाशा
जुगनू की छाया-सी
और उसी के हित, निशि-वासर,

फिरती काया–दासी"

(ग्रं. १, भाग १, पृ. ३५७)

संसार में दुःख का अनुपात सुख की अपेक्षा अधिक है. खुशी के प्रसार से वेदना के संसार की अधिकता के कारण ही गुप्तजी ने 'यशोधरा' में दुःख को सुख का बड़ा भाई कहा है. सुख पाने की लालसा भी दुःख का कारण बन जाती है. आवश्यकता से अधिक की तृष्णा ही दुःख का मूल है.

"धरती कितनी चाहिए?
जिसको जितनी चाहिए
दो डग, इतनी चाहिए
तृष्णा रितनी चहिए
तृष्णा बेपरिमाण की"

(ग्रं. १, भाग १, पृ. २२१)

दुःख कोई भी नहीं चाहता पर दुःख का भी अपना महत्त्व है. कुन्ती ने तो दुःख का ही वरदान माँगा था क्योंकि यह पल–पल हमें प्रभु का स्मरण कराता रहता है. संत कवि कबीर भी कहते हैं

"सुख के माथे सिल पड़े, नाम हृदय से जाय
बलिहारी वा दुःख की, पल–पल नाम रटाय"

सघन सुख का अनुभव उसीको हो सकता है जिसने प्रखर दुःख झेला हो. तुलसीदासजी ने इसे इस प्रकार कहा है.

"जे अति आतप व्याकुल होई
तरु–छाया सुख जानै सोई"

दुःख का अनुभव सुख के अनुभव को कई गुना बढ़ा देता है.

"यही मुश्किलें हैं देती अहसास ज़िन्दगी का

मुझे ग़म भी थोड़ा दे दे मेरी हर ख़ुशी के पहले"

(ग्रं. ३, पृ. ३५४)

यह ग़म खुशी के पहले ही आना चाहिए और एक सीमा तक ही यह सह्य हो सकता है. उससे अधिक दर्द व्यक्ति को अनुभूतिशून्य बना देता है. फिर वह न दर्द की अनुभूति कर सकता है न खुशी की.

"हो जाय बेसुरी मेरी साँसों की बाँसुरी
इस जिन्दगी को दर्द भी इतना न दीजिए"

(ग्रं. ३, पृ. २१८)

सुख व्यक्ति को सुस्त, आलसी और स्वार्थी बना देता है. जिसने कभी खुद दुःख नहीं झेला, वह भला दूसरे के दुःख को क्या समझेगा. यही नहीं, दुःख से सामना हुए बिना वह सुख के लिए प्रयत्नशील भी नहीं होगा. सामान्यतः प्राणी सुख की कामना करते हैं और दुःख से सामना पड़ने पर घबराकर शिकायत करने लगते हैं.

"सुख की वाणी मौन,
न उसकी कहता कोई कभी कथा
रो उठते हैं एक साथ सब,
जहाँ तनिक भी हुई व्यथा

(ग्रं. ३, पृ. ५५)

पर दुःख ही जीवन की वास्तविकता है. राजकुमार सिद्धार्थ से इस वास्तविकता को छिपाकर रखने के कारण ही एक दिन भेद खुलने पर उन्हें झटका लगा जिसने उनके जीवन में आमूल परिवर्तन कर दिया. वे दुःख के कारणों की, और उनसे मुक्ति के उपाय की तलाश में निकले और गौतम बुद्ध बने.

संसार के सारे रिश्ते, सारी संपदा दुःख के कारणभूत हैं. हर खुशी की कीमत दुःख सहकर चुकानी

पड़ती है.

"हमने माना कि खिल रहे हो गुलाब
सिर पे काँटों को भी वहन कर लो"
(ग्रं. ३, पृ. १९९)

मनुष्य का जीवन तो दुःख सहने के लिए ही बना है. वह कितना भी सुख-प्राप्ति का प्रयत्न करे, कण भर सुख के साथ मुट्ठी भर दुःख मिल ही जाता है. देवताओं और ग्रहों को तो जैसे उससे जन्मजात बैर है. वे उसका हँसना सह या देख नहीं सकते, सदा उसकी खुशी छीनने का षड़यन्त्र करते रहते हैं. अतः इस आशंका से कि न जाने कब कौन सा वज्रपात हो जाये, समझदार लोग डरते-डरते और सँभल-सँभल कर हँसते हैं.

"ढूँढा करते ग्रह ग्रस लेने
का बस एक बहाना
हँसे राम राज्याभिषेक के
समय पड़ा वन जाना
आयु बिलखती बिता, सती
सीता क्षणभर मुस्कायी
फिर वनवास मिला, घर छूटा,
शान्ति मरे ही पायी
विजयी भी पांडव ने देखी
राज्यश्री विधवा-सी
दूनी हुई और पहले से
मन की गहन उदासी"
(ग्रं. १, भाग १, पृ. ३५७)

दुःख में भी सुख पा लेना कला है. कवि वह कलाकार है जो आँसू में भी इन्द्रधनुष देख सकता है. उसकी मुस्कान के पीछे छिपी अंतर्व्यथा का सागर

किसीको दिखायी नहीं देता.

"दुःख के नील घनों में सुख की
विद्युत-सी रेखा है
आँसू की लड़ियों में मैंने
इन्द्रधनुष देखा है"
(ग्रं. १, भाग १, पृ. ३६२)

ज्ञानी दुःख से मुक्ति का उपाय बताते हैं कि मनुष्य को सुख-दुःख दोनों स्थितियों में अविचलित रहना चाहिए. गीता में इसे ही "दुःखेषु अनुद्विग्नमना सुखेषु विगतस्पृह" कहा गया है.

यह ज्ञान व्यक्ति को सन्त या ज्ञानी का दर्जा दिला सकता है. कवि सन्त या ज्ञानी नहीं होता. वह एक सामान्य प्राणी की तरह सुख-दुःख दोनों का भोग करता है तथा उनका सत्त्व अपनी कविता में प्रस्तुत करता है. वह ज्ञानियों के वातानुकूलित कक्ष के बदले सुख-दुःख के ठंढे-गरम झकोरे खाना अधिक पसन्द करता है. ये अनुभव के कण ही रजोगुण का कार्य करते हैं तथा उसकी कविता को जीवित रखते हैं.

"मैं गीत सुनाता जीवन के सुख-दुःख के
है ज्ञात न मुझको जीवन की परिभाषा"
(ग्रं. १, भाग १, पृ. ५४)

इनमें भी कवि को दुःख अधिक प्रिय लगता है तभी वह उसे हृदय से लगाये हुए घूमता है.

"उर में तड़प, गीत अधरों पर,
बेसुध पर फैलाये
बिँधा तीर से नीलकंठ ज्यों,
नभ में उड़ता जाये"
(ग्रं. १, भाग १, पृ. ३६२)

संत : कवि

कवि की प्रथम प्रतिबद्धता भावानुभूतियों के प्रति होती है. ग्रंथावली २ की भूमिका में कवि कहते हैं,

"कवि न तो साधक हैं न विरागी. वह मानवीय दुर्बलताओं से मंडित एक साधारण प्राणी है जो जीवन के राग और रस को स्वीकार करता है, उनसे मुँह नहीं मोड़ता."

(ग्रं. २, पृ. ४४)

सात्त्विकता की प्रमुखता से कवि संतस्वरूप हो सकता है किन्तु कवि और संत मे अंतर होता है. संत सर्वप्रथम राग को शान्त करता है और कवि का तो राग ही आधार होता है.

संत की दृष्टि सदा आध्यात्मिक ऊँचाइयों की ओर होती है. वे संसार को ओछी नजरों से देखते हैं तथा उसके झमेलों से दूर रहने की सलाह देते हैं. वे स्वार्थी कहे जा सकते हैं क्योंकि उनका तप, त्याग, सत्य, सहिष्णुता का भाव, सभी कुछ आत्मोन्नति केलिए है. वे कष्ट दिए जाने पर समर्थ होते हुए भी शाप तक नहीं देते कि क्रोध का यह भाव उन्हे अपने स्थान से नीचे न गिरा दे. कवि की सहानुभूति उन सामान्य लोगों के साथ है जो संसार के दुःख-सुख में जीते हैं तथा स्वर्ग की कामना करने के बदले धरती को ही स्वर्ग सी-सुन्दर बनाने का प्रयत्न करते हैं. इस प्रकार सामान्य मनुष्य ही विशिष्ट है.

"यह सत्य है
कि हमें धरती से उठते हुए
स्वर्ग तक जाना है,
पर हम उन्हें ग़लत कैसे कहें
जो कहते हैं

कि हमें इस धरती को ही स्वर्ग बनाना है"
(ग्रं. २, पृ. २४१)

धर्म : साहित्य

संत हमें धर्म की सुविधाजनक राह बताते हैं. साहित्य नित्य नयी पगडंडियों की सैर कराता है. धर्म का लक्ष्य श्रेय की प्राप्ति है. साहित्य प्रेय से श्रेय की ओर ले जाता है.

"श्रेय या प्रेय यही द्वन्द्व सनातन मन का
हारता धर्म जहाँ काल जयी होता है
बुद्धि उपदेश हमें लाख दिया करती हो
जो हृदय चाह रहा किन्तु वही होता है"
(ग्रं. ३, पृ. १४२)

बुद्धि और हृदय की रस्साकशी सदा चलती रहती है. कविगण सदा हृदय का ही पक्ष लेते हैं. बुद्धि और हृदय में वही अंतर है जो उद्धव के ज्ञान-वैराग्य में और गोपियों की प्रेमा-भक्ति में. दोनों का लक्ष्य एक है पर मार्ग भिन्न. गुलाबजी को न ऐसे ज्ञान की कामना है न मुक्ति की. उनकी असली पूँजी तो प्रेम और प्रेम के द्वारा प्रिय-प्राप्ति या भगवद्प्राप्ति है. ज्ञानी जीवन के सुख-दुःख से ऊपर उठने की प्रेरणा देते हैं. कवि उन्हीं सुख-दुःख के गीत गाकर काव्यानंद की सृष्टि करने में समर्थ होता है जो ब्रह्मानंदसहोदर है.

ज्ञान : भावना

ज्ञान और भावना एक दूसरे के विरोधी तत्त्व हैं. ज्ञान तर्क पर आधृत होता है और भावना तर्क से परे होती है. भावना वह ज्वार है, वह आवेग है जिससे कविता

जीवन्त तथा परिचालित होती है. कवि के लिए ज्ञान या विचार का सर्वथा महत्त्व न हो, ऐसी बात नहीं पर भावना के बिना कविता, कविता नहीं रहती. कविता की रचना में विचार और भावना के सापेक्षिक महत्त्व को कवि स्वीकार करते हैं.

"माना कि विचार विद्युत–से चमककर
हमें अपना गन्तव्य दिखा जाते हैं
पर यह भावना ही है
जिसकी प्रेरणा से हम आगे क़दम बढ़ाते हैं"
(ग्रं. २, पृ. २४२)

कवि ज्ञान के ठहराव से भावना की अस्थिरता को श्रेष्ठ मानते हैं. प्रेम के अनुभव से रहित जीवन की अपेक्षा प्रेम का अनुभव करके वियोग का दुःख झेलना तथा मुक्ति की नीरसता की अपेक्षा मर कर नये–नये रूपों में ढलना ज्यादा अच्छा है. इनमें गति है, स्पंदन है, जीवन है; व्यक्ति के लिए भी, विशेषतः कवि केलिए भी.

ज्ञान और भावना की जंग कागज़ी है. व्यवहार में दोनों ही मनुष्य के लिए आवश्यक हैं. ज्ञान के स्तर पर वह विश्व को हस्तामलकवत् देखता है तो भावना के स्तर पर विश्व के अणु–अणु से तादात्म्य स्थापित करके उनके सुख–दुःख में सम्मिलित होता है.

"अधरों पर मुरली और कर में लिए गीता हूँ
मैं दुहरा जीवन जीता हूँ"
(ग्रं. २, पृ. ९८)

ज्ञान : अज्ञान

कभी कभी अज्ञान भी ज्ञान से बाजी मार ले जाता है. तुलसीदासजी के अनुसार,"सबते भले हैं मूढ़, जिन्हहिं

न व्यापत जगत गति." ज्ञान व्यक्ति को चिन्ताकुल कर देता है. जो अवश्यंभावी है उसके प्रति चिन्ताकुल होने से कुछ नही बननेवाला. ऐसी स्थितियों में अज्ञान ही श्रेष्ठ साबित होता है.

"हरित तृण चरते बलि–पशु के लिए
मृत्यु क्या अर्थ रखती है!
उसकी अज्ञता अंत तक उसे
सुख से जीने में समर्थ रखती है"
(ग्रं. २, पृ. २००)

मनुष्य भी इस बलिपशु की तरह या मृत्युदंड पाये हुए कैदी की तरह है. उसे अपनी सजा का, धीरे–धीरे निकट आती मृत्यु का ज्ञान हो जाने पर वह उपस्थित सुख को भी पूर्णतः भोग नहीं सकता.

ज्ञान की सबसे बड़ी विडंबना है कि इसे जाननेवाला कहता नहीं और कहनेवाला जानता नहीं.

"बन न पाएगा तुझसे कह पाना
जान लेना है चुप ही रह जाना"
(ग्रं. १, भाग १, पृ. ३६५)

ज्ञान की गहराई में उतरकर व्यक्ति की अस्मिता ही समाप्त हो जाती है. कवि के लिए तो यह उसके नीचे से आधार के खिसकने के समान है. कवि यदि सामान्य मनुष्य की तरह सुख–दुःख की लहरों के आघात नहीं झेलेगा तो वे भावनाएं कहाँ से लाएगा जो कविता की प्रेरणा बनती हैं!

"ज्ञानी कहते हैं
यहाँ एक ही रंग सच्चा है
शेष सब कच्चा ही कच्चा है
पर कच्चे रंग से
कुछ देर को

चेतना में रंगत तो आती है
पक्के में रँगाने से तो
चादर ही गुम हो जाती है"
(ग्रं. २, पृ. २०७)

मन

आत्मा तो निर्विकार है. मन ही है जो व्यक्ति को कोई कार्य करने केलिए प्रेरित करता है. इन्द्रियों द्वारा विषयों का भोग भी मन ही करता है तथा सुख-दुःख की अनुभूति भी मन को ही होती है. मन को छठी ज्ञानेन्द्रिय भी कहा गया है.

मन अत्यन्त चंचल होता है, इसे सब जानते हैं. सबसे तेज गति मन की ही होती है. यह एक क्षण में अलकापुरी, नन्दनवन आदि सभी मर्त्य-अमर्त्य लोकों की सैर करा सकता है. ज्ञानियों ने इसका निग्रह करने की सलाह दी है अन्यथा यह व्यक्ति को भटका कर कहीं का नहीं छोड़ता.

कवि का मन और भी चंचल होता है. पर यह उसके लिए वरदान सदृश है क्योंकि इसी के सहारे वह आकाश-पाताल तक पहुँच सकता है. यह उसके लिए प्रेरक का कार्य करता है तथा इसी के कारण उसमें रजोगुण का प्राधान्य होता है और वह काव्य-रचना में प्रवृत्त होता है. यह कवि को नित्य नये लोकों की सैर कराता है. कभी तुच्छ बातों में भी रस लेता है तो कभी अमरता की गंभीर बातें करता है.

"मेरा मन विश्राम न जाने
नये-नये रूपों में सजकर
नित-नव कौतुक ठाने

उड़कर कभी असीम गगन में
पहुँचे अलका में, नंदन में
कभी अमरता के दर्पण में
अपना रूप बखाने"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. ४४)

मन अप्राप्तकामी होता है, सदैव अप्राप्त वस्तु केलिए ही मचलता है. जो प्राप्त है उसमें चैन नहीं लेने देता और अप्राप्त के पीछे दौड़ाता रहता है. जब अप्राप्त प्राप्त बन जाता है तो मन के लिए उसमें आकर्षण समाप्त हो जाता है. वह सपना देखता है किन्तु जब सपने के पूरे होने का समय आता है तो वह किसी और सपने को अपना आश्रय बना लेता है.

"जाने कौन-सा अबूझ स्वप्न
सदा तुझे छलता रहा है
जब भी लक्ष्य सामने आया
तू दौड़ कर आगे निकलता रहा"
(ग्रं. २, पृ. २०५)

मन चंचल ही नहीं अधीर भी होता है. यह एक बच्चे की तरह कब क्या फ़रमाइश कर देगा, पता नहीं. हर काम अपने नियत समय पर ही होता है पर यह मन तो बच्चे की तरह अधीरता नहीं छोड़ता.

"ओ अधीर मन!
धीरज क्यों खोता है?
फूट-फूट कर क्यों रोता है?
क्या तेरी आतुरता देखकर
सूरज आधी रात को निकल आएगा?
कार्य अपने समय पर ही होता है
अँधेरा जितना भी गहरा होगा

सबेरा उतना ही सुनहरा होगा!"

(ग्रं. २, पृ. २०४)

कभी–कभी कोई बात मन में सदा के लिए बैठ जाती है. इसे ओब्सेशन मनोग्रन्थि कहते हैं. कितने भी प्रयास किये जाएं, साधारणतः उससे छुटकारा नहीं मिलता. ऐसी ही एक स्थिति में कवि कहते हैं,

"ओ मेरे मन!
तू क्यों भ्रांत हुआ है
अंजलियों से जल उलीचने से भी
कहीं दावानल शान्त हुआ है"

(ग्रं. २, पृ. २०५)

मन में अस्पष्ट भावों का भंडार होता है जिनमें से कुछ अन्तर्विरोधी भी होते हैं. व्यक्ति का चेतन मन जिससे घृणा करता है, अचेतन उसीसे प्रेम करता है. ऐसे ही अन्तर्विरोधी भावों की झलक यहाँ मिलती है.

"माना मन एक चूर–चूर पड़ा धरती पर
किन्तु एक मन है जो पराजय न मानता"

(ग्रं. ३, पृ. १०६)

मन के स्तर पर विच्छेद न होने के कारण कवि के लिए विरह और मिलन एक जैसा हो गया.

"दूर हुए हम खेद नहीं है
मन में तो विच्छेद नहीं है
विरह–मिलन में खेद नहीं है
अब कुछ मेरे लेखे"

(ग्रं. १, भाग २, पृ. ५४)

वैराग्य

दुःखों के प्रहार से मनुष्य जूझता रहता है. यही

उसकी नियति है. वह संसार में आया ही इन थपेड़ों को सहने के लिए है. एक सीमा तक इनसे लड़कर साहसिकता का आनन्द भी उठाया जा सकता है. जबतक मनुष्य में शक्ति है, वह लड़ता है किन्तु काल के क्रूर चरणों की लगातार ठोकरों से यदि वह टूट जाता है तो मूर्तिमान वैराग्य बन जाता है. जड़ता की इस स्थिति में केवल व्यक्ति ही नहीं, उसके सारे स्नेह-सम्बन्ध, अरमान, सपने सभी टूट जाते हैं, ओठों की हँसी और आखों के आँसू सूख जाते हैं.

"टूटता है पर्वत तो आग बन जाता है
सिन्धु टूटते ही झाग-झाग बन जाता है
काल के कुटिल क्रूर चरणों की ठोकर खा
व्यक्ति टूटता है तो विराग बन जाता है"
(ग्रं. ३, पृ. ११५)

संघर्ष

जीवन नाम ही संघर्ष का है. संघर्ष में सर्वाधिक सहायक मन होता है. कहावत है, "मन के जीते जीत है, मन के हारे हार." संघर्ष में जीत-हार के कारण व्यक्ति की आस्था नहीं डिगनी चाहिए. गुलाबजी प्रबल मेरुदंड के कवि हैं. आँधियों के प्रबल झोंके भी उनकी आस्था के दीप को बुझाने में समर्थ नहीं हैं.

"नाव किनारे पर पहुँचे या नहीं
मैं डाँड़ें तो सतत चला रहा हूँ
आँधियों के झोंके भले ही आकर बुझा दें
हर बार एक नया दीपक तो जला रहा हूँ"
(ग्रं. २, पृ. २०६)

यह संघर्ष अस्तित्वरक्षा का संघर्ष है. कवि के रूप

में जीवित रहना किसी संघर्ष से कम नहीं. कवि को कई तरह के मानसिक, सामाजिक, आर्थिक दबाव सहने पड़ते हैं. आलोचकों और विरोधियों के निर्दय प्रहारों का सामना करना बड़े ही जीवट का काम है. इन सबके बावज़ूद कविता लिखना एक साहसिक कदम है.

"गुलाब, ऐसे ही खिलते हैं हम, किसीने ज्यों
दिया जला के मुकामिल हवा के छोड़ दिया"
(ग्रं. ३, पृ. २३३)

काल

श्री कृष्ण ने अर्जुन को अपना विराट रूप दिखाया था. उस विश्वरूप से अर्जुन ने पूछा, "महानुभाव, आप कौन हैं?" तो उत्तर मिला, "मैं काल हूँ."

अर्जुन ने देखा था, यह काल कितना शक्तिशाली है. इसके आगे किसीकी भी नहीं चलती. देव, नाग, असुर, गन्धर्व, सिद्ध, मुनि – सब इसके वश में हैं. बड़े-बड़े महात्मा, राजा, ज्ञानी, दानी – सभी तो इसके ग्रास हैं. सृष्टि के क्रम में इसकी भूमिका दाता की भी है और सब कुछ छीननेवाले की भी.

"दाता भी है काल, और है
वही बड़ा तस्कर भी
सब कुछ करता हरण हमारा,
सब कुछ दे-दे कर भी"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. ७३)

सामान्य बोलचाल में काल शब्द समय का बोधक है. इस अर्थ में भी यह कम शक्तिशाली नहीं. समय सही हो तो सभी काम सही होते हैं वरना सभी पासे उलटे पड़ जाते हैं. व्यक्ति तो केवल एक मोहरा है. वह समझता है कि

उसने ही सब कुछ किया है पर सब काल की ही चाल है. आज जो कुछ, जैसा कुछ भी है, कल नहीं रहेगा.

"जितने भी भरे कलश हैं
सुधा, विष, रस कि विरस हैं
सबको काल–पुरुष मुँह ढाँपे रीत जायगा
यह भी बीत जायगा, सब कुछ बीत जायगा"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. ३३७)

काल द्रुतगतिशील है. कहावत है कि समय और ज्वार किसीकी प्रतीक्षा नहीं करते. जब तक मनुष्य कुछ करने की सोचता है तब तक तो दृश्य ही बदल जाता है.

"कितने शीघ्र आ गये हम नदी के किनारे!
कितने शीघ्र! कितने शीघ्र!
. . .
अभी थोड़ी देर पूर्व ही तो
पड़ोसी गाँव की किशोरी गोरी
'नयन विशाल, भाल दिये रोरी'
आयी थी सबकी आँखें बचाकर
खेलने हमसे 'होरी'
और आ गया है अब नदी का यह किनारा"
(ग्रं. २, पृ. २७)

यदि इस द्रुतगतिशीलता, इस परिवर्तन से बचा नहीं जा सकता तो क्या यह उचित नहीं कि खिलकर झरने से पहले ही फूल अपने आपको सुगन्ध में परिवर्तित कर ले; यह तथ्य जान ले कि फूल झरता है, सुगन्ध नहीं.

"मुझमें और फूलों में होड़ लगी है
देखें कौन पहले अपने को
सुगन्ध में परिवर्तित कर लेता है"
(ग्रं. १, पृ. २९१)

मिट्टी (धरती)

शरीर जिन तत्त्वों से बना है उनमें सर्वप्रथम मिट्टी का नाम आता है. बाइबिल में भी कहा गया है कि मनुष्य मिट्टी से आकर मिट्टी में ही चला जाता है. उसकी यात्रा मिट्टी से शुरु होकर मिट्टी में ही समाप्त हो जाती है. अतः मिट्टी का मोह आजीवन मनुष्य के साथ रहता है. मिट्टी के पुतले मानव को किसी भी गगन में उड़ान भरने के प्रयास में उसे यह मिट्टी अपनी ओर आकर्षित करती है – चाहे वह कवित्व की उड़ान हो, आध्यात्मिक उड़ान हो या देशान्तर की उड़ान. कवि कहते हैं –

"मिट्टी छोड़ चरण तू मेरे
मैं विमुक्त क्यों मुझको तेरा जड़ आलिंगन घेरे"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. ६२)

पर यह मिट्टी और मिट्टी का मोह मनुष्य को नहीं छोड़ता. इसका मनुष्य से तादात्म्य सम्बन्ध है. सब इसीकी तो माया है.

"गत–आगत जो नया पुराना
रूप अमित इसका ही बाना
इससे चल इसमें ही आना
क्या खोया! क्या पाया!
सब मिट्टी की ही माया"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. ६१)

कवि मिट्टी की महत्ता को स्वीकार करते हैं. वेदान्त के अनुसार प्रत्येक स्थूल भूत में पचास प्रतिशत स्वयं उसका तथा बाकी पचास प्रतिशत अन्य चार भूतों के अंश विद्यमान रहते हैं. इसे भूतों का पंचपंचीकरण कहते हैं.

(रस–मीमांसा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. १९८, हिन्दी–

शब्दसागर में 'पंचीकरण' के अंतर्गत)

रूप धारण करने के दौरान मन, चित्, बुद्धि और अहंकार–इन चारों का भी मिट्टी में लय और विलय होता है. अतः कवि मिट्टी का जयगान करते हैं.

"मृत्तिके तेरी ही जय होती

. . .

तू मन, तू ही बुद्धि, चेतना तुझमें थककर सोती
मेरा मन भी तो तू ही है, सीपी का–सा मोती"

(ग्रं. १,भाग २, पृ. ६१)

गुलाबजी की कविता में मिट्टी के प्रति मोह झलकता है.

"घड़ी–दो घड़ी रहा ठहरना
हार–जीत का दुःख क्या करना!
चलते क्षण आँखें क्यों भरना!
कितनी बार कहा मिट्टी से इतना मोह न जोड़ो
अब यह खेल अधूरा छोड़ो"

(ग्रं. १, भाग २, पृ. ४२)

त्याग : भोग

बहुधा परस्पर विरोधी राह पर चलकर भी हम उसी एक गन्तव्य तक पहुँच जाते हैं. विभिन्न धर्मों के अनुयायी भक्ति की भिन्न राह पर चलकर भी ईश्वर के एक जैसे प्रसाद, अनुग्रह और प्रेम की अनुभूति करते हैं क्योंकि अलग–अलग धर्म अन्ततः उसी प्रभु के निकट पहुँचाते हैं. ऐसा उनके अपने ईश्वर के प्रति और अपने धर्म के प्रति विश्वास के कारण संभव हो पाता है. यह विश्वास ही है जो पत्थर को भी देवता बना देता है.

'जीवन कैसे जियें', इस विषय में भी संसार में

परस्पर विरोधी विचार प्रचलित हैं. इन्हें प्रवृत्तिमार्गी तथा निवृत्तिमार्गी या क्रमशः भोगवादी तथा त्यागवादी कहा जा सकता है. अपने-अपने दृष्टिकोण से ये दोनों सही हैं. कवि दोनों मार्गों के हिचकोले खाते हैं.

"मेरा मन तराजू के काँटे सा डोल रहा है
एक पलड़े पर भोगवादी हैं, एक पर गाँधी हैं
गाँधी ने अपने सिद्धान्तों की सत्यता
अपने जीवन के द्वारा दिखा दी है
किन्तु भोगवादियों ने अँधेरे में
चलने के लिए
हमारे हाथ मे केवल
एक चमकती हुई अग्निशिखा दी है"
(ग्रं. २, पृ. १६९)

उन्होंने दोनों मार्गों को उलटा, पलटा, परखा और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सहज रूप से जो होता है वही सही है. वे प्रार्थना करते हैं.

"सहज हो प्रभु साधना हमारी"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. ४९)

जीवन की सहज गति बनी रहे यही अच्छा है. उसे खींचकर प्रवृत्ति या निवृत्ति की ओर ले जाने से उसकी स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है. कवि स्वाभाविकता को बहुत अधिक महत्त्व देते हैं. इसे ही गीता में अपने धर्म के अनुसार आचरण करना कहा गया है. अपने स्वाभाविक धर्म के अनुसार कार्य करने में व्यक्ति को जितनी सहजता होती है उतनी दूसरे के धर्म के अनुसार कार्य करने में नहीं. गीताकार ने तो यहाँ तक कहा है

"स्वधर्मे निधनं श्रेयं परधर्मो भयावहः" (३,३५)

सहज जीवनयापन में अनुकूल या प्रतिकूल, जैसी

भी परिस्थिति आये उसे भी सहज भाव से स्वीकार करते जाना चाहिए. यही कवि ने चाहा है, यही किया है.

"जीवन को सहज-सहज जिया है
प्राप्त का विरोध नहीं किया है
फूलों से हार गूँथ डाले हैं
काँटों से घर घेर लिया है"
(ग्रं. ३, पृ. ११२)

आडम्बर

सहज जीवन के पक्षधर कवि को आडम्बर से वितृष्णा है. आडम्बर झूठ है, नकलीपन है, अपनी लघुता को मिथ्या अवधानों से ढककर झूठी महत्ता का प्रदर्शन है.

"मुझे न भाता जीवन में
आडम्बर इतना ज्यादा
उड़ें तितलियाँ, मधुकर गायें
पंछी मधु-स्वर ले इठलायें
फूल रहें क्यों मौन लिए
सुन्दरता की मर्यादा!"
(ग्रं. १, भाग १, पृ. १२६)

बड़प्पन एक आन्तरिक गुण है, आत्मिक प्रकाश है. इसे दिखाने की और बताने की आवश्यकता नहीं. रहीम के अनुसार, "रहिमन हीरा कब कहे, लाख टका मेरो मोल."

अपनी क्षुद्रता को हम आडम्बर में छिपा भी दें तो क्या हम सचमुच महान हो गये! कवि चाहते हैं कि लोग उन्हें अपने वास्तविक रूप में ही जानें. व्यवहार जगत में वे पाते हैं कि चारों ओर आडम्बर का राज्य है.

"हम सब माया-मृग हैं
हम सभी ने ऊपर से
सोने की छालें ओढ़ रखी हैं

बस मुखौटे अलग-अलग हैं"
(ग्रं. २, पृ. १९१)

सिद्धान्त : व्यवहार

किसी सिद्धान्त को मानना और व्यवहार में उतारना, दो अलग बातें हैं. इनमें उतना ही अन्तर है जितना पुस्तकों का ढेर लगा कर बैठनेवाले और उन्हें पढ़नेवाले व्यक्ति में. 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे' मिल जाएंगे पर सिद्धान्तों का महत्त्व उन्हें आचरण में उतारने का, व्यवहार में लाने का है. 'गीता' के महान सन्देशों की व्याख्या करनेवालों और उसकी पत्र-पुष्प से अर्चना करनेवालों से अधिक श्रेष्ठ वह व्यक्ति है जिसने उन सन्देशों को अपने जीवन में उतार लिया है.

"देवालय में बैठकर मदिरापान करनेवाला
क्या कभी मद-मत्त नहीं होता!
केवल शास्त्रों का अध्ययन करने से ही
क्या चित्त की काई उतर जायेगी!"
(ग्रं. २, पृ. २३९)

आपाधापी

आज के मानव की व्यस्तता अलग प्रकार की है. श्रम और समय को बचाने के अनेक उपकरणों का आविष्कार उसने किया है. जितना ही वह बाह्य सुविधाओं के लिए दौड़ रहा है उतना ही आन्तरिक रूप से खोखला होता गया. बड़ी-बड़ी उपलब्धियों के पीछे भागकर वह जीवन की छोटी-छोटी ख़ुशियों के लिए तरस गया है.

"पास ही सुई है, धागा भी है,
इशारे से उसने कुछ माँगा भी है,

माला गूँथकर तैयार कर सकूँ,
मेरे पास इतना समय कहाँ है!
फूलों से प्यार कर सकूँ,
मेरे पास इतना समय कहाँ है!"
(ग्रं. २, पृ. ९७)

सत्य

जिस प्रकार सोने के आभरण बनाने के लिए उसमें थोड़ी मिलावट ज़रूरी होती है, वैसे ही जीवन में भी कोरे सत्य से काम नहीं चलता. हम 'सत्यमेव जयते' कहते हैं किन्तु कोरा सत्य कभी विजयी नहीं होता. भुक्तभोगी जानते हैं कि चतुराई के बिना सत्य भी पंगु हो जाता है.

"सत्य बड़ा है फिर भी अक्सर दाँव हार जाता है
चतुराई की नाव बिना, कब ,कौन पार जाता है!"
(ग्रं. १ भाग १, पृ. ३१६)

न्याय

सत्य-असत्य, भलाई-बुराई का झगड़ा सदा से चलता आया है. न्याय के बीच-बचाव करने पर आशा बँधती है कि अब दूध का दूध और पानी का पानी हो जाएगा. पर ऐसा होता नहीं. हर बार रावण मरकर भी जीवित हो जाता है. सत्य और न्याय को मुँह की खानी पड़ती है.

"जीत होती नहीं भलाई की
नींव हिलती नहीं बुराई की
न्याय का ढोल पीटने वाले!
क्यों भला अपनी जग-हँसाई की!"
(ग्रं. ३, पृ. ११५)

लोक–व्यवहार

अभिमान व्यक्ति को अपने स्थान से नीचे गिरा देता है. संसार के प्रत्येक साहित्य में इसके उदाहरण मिल जायेंगे कि पतन के पूर्व अभिमान होता है.

"व्योम–पटी पर वह अभिमानी
लिख करुणा कि अमर कहानी
एक ओर चल दिया क्षितिज में
जैसे भाग्य किसी का रूठा
दूर गगन में तारा टूटा"
(ग्रं. १ भाग १, पृ. ५१)

प्राप्य की अवहेलना करके उसे वापस पाने का प्रयास कभी सफल नहीं होता. वह गये वक्त सा कभी लौटकर नहीं आता चाहे कोई कितना भी प्रयास करे.

"फिर न आये पलटकर 'गुलाब'
लाख दुनिया मनाती रही"
(ग्रं ३, पृ. २०५)

अपने अच्छे–बुरे सभी कर्मों का परिणाम भुगतना पड़ता है. इसे कार्य–कारण नियम कहते हैं. कहावत भी है, 'जैसी करनी वैसी भरनी' या 'जो बोया वही काटोगे'.

"उनकी ही वाणी में है
उनको समझाना पड़ता
शास्त्रों की मर्यादा के हित
शस्त्र उठाना पड़ता
मोती उगते वहीं जहाँ
मोती का दाना पड़ता
आँधी बोने वाले को
तूफान चबाना पड़ता"
(ग्रं. १ भाग १, पृ. ३०८)

रहीम कवि ने चेतावनी दी थी कि अपने मन की व्यथा मन में ही रखनी चाहिए. कोई उसे बाँटेगा नहीं. हाँ मज़ाक ज़रूर उड़ा सकता है. दुनिया ऐसे लोगों से भरी हुई है जो रोकर सुनते हैं, हँसकर उड़ाते हैं.

"बातें बना-बना के फिराते हैं मुँह सभी
सच है भरम किसी को भी अपना न दीजिए"
(ग्रं. ३, पृ. २१८)

लौकिक-अलौकिक प्रत्येक सम्बन्ध विश्वास पर आधृत होता है. विश्वास-भंग या धोखा सम्बन्धों को तोड़ने का काम करता है. यह एक अत्यन्त निम्न कोटि का आचरण है. इससे व्यक्ति की मैत्री, प्रेम, तथा विश्वास आहत होते हैं तथा जीवन के उच्च मूल्यों पर से विश्वास डिगता है.

"ढाढस है, मन का भेद है, आँचल की है हवा
देने की लाख चीज़ हैं, धोखा न दीजिए "
(ग्रं. ३, पृ. २१८)

वृहद्ग्रंथ महाभारत के रचयिता व्यासजी ने उसका संपूर्ण निचोड़ दो पंक्तियों में दे दिया.

"अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयं
परोपकाराय पुण्याय पापाय परपीडनं"

परोपकार जैसा पुण्य नहीं और परपीड़न जैसा पाप नहीं. दोनों स्थितियाँ पर अर्थात् दूसरे के सुख, दुःख से सम्बद्ध हैं. सहानुभूति का गुण, दूसरों के दुःख-सुख को अपने दुःख-सुख की तरह अनुभव करने की योग्यता, ही परोपकार में प्रवृत्त तथा परपीड़न से निवृत करता है.

"जो पराई जलन से न तड़पे
आदमी वह कोई आदमी है!"
(ग्रं. ३, पृ. ३३८)

साहित्य समाज का दर्पण होता है. कवि के आईने में व्यक्ति अपने आप को देखता है. आज के युग की कुंठा, संत्रास, लक्ष्यहीनता, अवसाद, पीड़ा निराशा, घुटन, व्यर्थताबोध, एकाकीपन आदि कवि और उसके साहित्य को प्रभावित करते हैं.

साहित्य-शास्त्र में वर्णित संचारी भावों की तरह ऊपर वर्णित नकारात्मक भाव कवि के स्थायी भाव, प्रेम को ही पुष्ट करते है. इनमें से अधिकांश का संबंध प्रेम और जीवन की असफलताओं से है.

व्यर्थता-बोध

"खंडित विधु-लेखा मैं
पाँव के तले
पानी की रेखा ज्यों
बने, मिट चले
पंछी ज्यों पंखहीन
ऐसे ही जिया
कुछ भी नहीं किया
केवल दिया, दिया, दिया!"
(ग्रं. १, भाग १, पृ. ३३२)

बेचारगी

"डाल से छूटते ही पत्ता अनाथ हो गया
हवा का जो भी झोंका आया,
उसीके साथ हो गया!"
(ग्रं. २, पृ. १९९)

एकाकीपन

"पथ भूल किरण आती न यहाँ
यह है ऐसा ही अंधकार
चन्द्रमा कहाँ! रे खाने को
मिलता न चकोरी को अँगार"
(ग्रं. १, भाग १, पृ. ४७)

लक्ष्यहीनता

"मेरा लक्ष्य खो गया साथी! जैसे तारा भोर का
मेरा मीत नहीं हो पाया, जैसे चाँद चकोर का"
(ग्रं. १, भाग १, पृ. २१०)

संगीहीनता

एक-एक कर बिछुड़ते हुए साथियों के अभाव से अकेलेपन का अहसास और तीखा हो जाता है.

"फिरे, सब फिरे
लहरों के बीच हम अकेले ही तिरे
. . .
लौट गये कोई सुभाषित उछालते
सावधान करते, सहेजते, सँभालते
कुछ फिरे तीर से, नयन-नीर ढालते
रूप के रसिक जो निरे
नीचे महासिन्धु, नभ ऊपर अपार है
कोई संग-साथ न तो प्रिय परिवार है
झंझा की नाव, ज्वार की ही पतवार है
कभी उठ गये, कभी गिरे"
(ग्रं. १, भाग १, पृ. ३३३)

अविश्वास, निराशा, घुटन, संत्रास

"शंका, अविश्वास, का अँधेरा और जम गया है
आशा का उठाया हुआ पाँव जैसे थम गया है
बढ़ती ही जा रही है विकल प्रतीक्षा की रात
लक्ष्य तो वही है किन्तु साहस हो कम गया है'
(ग्रं. ३, पृ. १११)

दिशाहीनता

"ऐसी घनघोर घटाओं
से घिरा है आकाश
नहीं बिजली, न तो दीपक,
न जुगनुओं का प्रकाश
ऐसे में, हाय! कहाँ जायें!
किधर जायें हम!
कोई भी अपना–पराया,
न कहीं दूर, न पास"
(ग्रं. ३, पृ. ११५)

खोखलापन

"शून्य का घेरा बढ़ा जाता है
मन का अँधेरा बढ़ा जाता है
मैं कहीं आप ही न खो जाऊँ
प्यार तो तेरा बढ़ा जाता है!"
(ग्रं. ३, पृ. ११३)

जीवन–संघर्ष

"भेड़िये, रीछ और चीते हैं
जो सदा मनुज–रक्त पीते हैं

इस बयाबान घोर वन में हम
क्या कहें किस प्रकार जीते हैं!"
(ग्रं. ३, पृ. ११४)

व्यर्थता, निराशा, उपेक्षा, टूटन

"बिद्ध शर से अपंख बाज हूं मैं
अनसुना अनकहा अकाज हूँ मैं
त्यक्त, निःशक्त, बीच सागर का
भग्न जलता हुआ जहाज हूँ मैं"
(ग्रं. ३, पृ. ११४)

प्रेम–भावना

विश्व की प्राचीनतम प्राप्त रचना ऋग्वेद के दशम मण्डल के ९५वें सूक्त में पुरुरवा–उर्वशी–संवाद है जो कि प्रेम द्वारा उत्पन्न विरह–वेदना से भरपूर हैं. आदिकवि वाल्मीकि की वाणी प्रेम में अचानक व्याघात को लक्ष्य करके ही फूटी थी. सदा से कविगण प्रेम की व्याख्या में लगे हैं पर पूर्णतः व्यक्त नहीं कर पाए.

'नारद–भक्ति–सूत्र' में प्रेम को गूँगे के गुड़ की तरह अनिर्वचनीय माना गया है. इसका कुछ आभास आँखों की चमक ओर ओठों की मुस्कान से हो तो हो अन्यथा वाणी के द्वारा प्रकटीकरण नहीं हो सकता.

"अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपं"

(नारद–भक्ति–सूत्र, पृ. ५१)

"मूकास्वादनवत्"

(नारद–भक्ति–सूत्र, पृ. ५२)

प्रेम की चरमावस्था में व्यक्ति को केवल प्रेमास्पद ही दिखायी तथा सुनायी देता है. उसकी समस्त इन्द्रियाँ, भावनाएँ और चिन्तन उसीकी ओर उन्मुख होते हैं.

"तत्प्राप्य तदेवालोकयति, तदेवशृणोति.
तदेव भाषयति, तदेव चिन्तयति."

(नारद–भक्ति–सूत्र, पृ. ५५)

छान्दोग्य उपनिषद् में भी प्रेम की परिभाषा लगभग इसी रूप में दी गयी है. वहाँ इस प्रेम को भूमा (ब्रह्म) कहा

गया है. इसमें प्रेमास्पद से अद्वैत की स्थिति होती है तथा इसे अमर्त्य माना गया है. जिस प्रेम में वस्तु को देखने, सुनने, जानने की गुंजाइश रहती है अर्थात् द्वैत रहता है उसे 'तदल्पं' तथा मर्त्य या कालबाधित माना गया है.

गुलाबजी के अनुसार प्रेम एक ऐसा भाव है जो शब्दों का बोझ भी नहीं सह सकता. इसे केवल अनुभव कर सकते हैं. संबन्धों का नाम देने और शब्दों में व्यक्त करते ही इसका रूप बदल जाता है. जैसे संगीत के लिए शब्द अनावश्यक होते हैं, वह स्वरों में व्यक्त होता है, उसी प्रकार विशुद्ध प्रेम भी नयनों की भाषा में ही बोलता है.

"नाज़ुकी इसकी उठाती नहीं शब्दों का बोझ
प्यार की बात इशारों में ही चलती देखी"
(ग्रं. ३, पृ. २६६)

"बिना कहे भी तो आँखों ने कह दिया सब कुछ
सदा से प्यार की भाषा इसी ज़ुबान में है"
(ग्रं. ३, पृ. २०८)

कबीरदास के अनुसार इस प्रेम के ढाई अक्षर को जाननेवाला ही पंडित होता है. प्रेम की महत्ता के विषय में महाभारत में कहा गया है –

"मृदुमेव मृदुः हन्ति, मृदुः हन्ति सुदुष्करम्
नासाध्यं मृदुणा किंचित् तेन तीक्षतरो मृदुः"

कवि की दृष्टि में भी यह सबसे बड़ा कीमिया है. संसार में अपना पराया कोई नहीं. प्रेम ही से पराये भी अपने हो जाते हैं. यह वह मंत्र है जिससे किसीको भी वशीकृत किया जा सकता है.

"मंत्र तो बस है ढाई अक्षर का
जिसपे चाहो वशीकरण कर लो"
(ग्रं. ३, पृ. १९९)

जहाँ बुद्धि से कोई बात नहीं सुलझती वहाँ प्यार की बोली काम कर जाती है. प्रेम के लिए कुछ भी अशक्य नहीं. प्रिय की प्राप्ति हो या प्रभु की, प्रेम अपनी साधना से बाजी जीत जाता है.

"अक्ल को राह न मिल पायी ख़ुद अपने घर की
प्यार का अक्स सितारों की नज़र तक पहुँचा"
(ग्रं. ३, पृ. २६६)

"प्यार ने झट उन्हें पा लिया
साधना हाथ मलती रही."
(ग्रं. ३, पृ. २०५)

विश्व के सभी धर्मों का आधार प्रेम है. यही व्यक्ति को व्यक्ति से, विश्व से और अन्ततः प्रभु से जोड़ता है. स्वयं भगवान भी तो प्रेमस्वरूप हैं. मनुष्य में ईश्वर की झलक प्रेम के रूप में ही प्रस्फुटित हुई है.

"कुछ देवत्व अंश इसमें,
कुछ भाग मिला है नरता का
प्रेम, यही तो माप चिह्न है
मानव की ईश्वरता का."
(ग्रं. ३, पृ. ५७)

प्रेम व्यक्ति की आन्तरिक छवि है, बाह्य आवरण नहीं. हृदय की यह निश्छल वृत्ति दर्पण की तरह स्वच्छ तथा निर्मल है. इसमें दुराव के लिए कोई स्थान नहीं.

"हमसे मिलिए तो आइने की तरह
प्यार टिकता नहीं दुराव के साथ"
(ग्रं. ३, पृ. २०३)

प्रेम में प्रतिदान की कामना नहीं होती. इसमें स्वार्थ के लिए कोई स्थान नहीं. वस्तुतः प्रेम पाने का नहीं देने का नाम है. प्रेमरूपी हीरे की कीमत आत्मत्याग द्वारा ही

चुकाई जा सकती है.

"प्रेम भोग में नहीं त्याग में है"

(ग्रं. २, पृ. २३१)

"प्रेम वह हीरा है
जिसे किसी भी अन्य उपाय से
नहीं पाया जा सकता है
अपने आपको बदले में देकर ही
इसका मूल्य चुकाया जा सकता है."

(ग्रं. २, पृ. २३६-२३७)

प्रेम समर्पण है, त्याग है. यही वह दिव्य भाव है जो फूल को खिलकर झर जाने और गन्ध में परिवर्तित होने के लिए प्रेरित करता है.

"वह जानता है
कि सुगन्ध बनकर ही
वह तुम्हें पा सकता है
यही उसके खिलते जाने का रहस्य है."

(ग्रं. २, पृ. १९२)

प्रेम मनुष्य का सहज अधिकार है. यह उसकी दुर्बलता या पराजय का लक्षण नहीं. मानव जीवन की सार्थकता प्रेम में ही है.

"कोई हँसे प्रेम को मानव
की दुर्बलता कह-कहकर
मैं तो मानव जीवन की
सार्थकता इसे मानता हूँ"

(ग्रं. ३, पृ. ५६)

"प्रेम सहज अधिकार तुम्हारा ओ जीवनाभिलाषी"

(ग्रं. २, पृ. ८७)

प्रेम वह मदिरा है जो मनुष्य को मदहोश रखती है.

यह शंभु–शीश पर धारण की गयी गंगा की तरह पवित्र है. कालक्रमानुसार इस प्रेम का रूप बदलता रहता है. कभी यह विष की तरह मूर्च्छना देनेवाला तथा कटु प्रतीत होता है तो कभी अमृत–सा मधुर तथा जीवनदायी.

"मेरे भाग्य पड़ी जो मदिरा
वह न किसी को मिल पाती है
. . .
वह गंगाजल--सा पावन है,
शंभुशीश पर रहनेवाला
एक घूँट में अमृत, दूसरे
में कटु तिक्त गरल की ज्वाला"
(ग्रं. २, भाग १, पृ. २८९)

जीवन की कंटकभरी तपती राह में प्रेम 'तरुछाया–सुख' है.

"जिन्दगी दर्द का दाह है
प्यार छाँहों भरी राह है."
(ग्रं. ३, पृ. २०६)

भगवदोपासना केलिए सम्मुख रखे गए चित्र या मूर्ति की तरह प्रेम को भी प्रारंभ में रूप के आधार की आवश्यकता पड़ती है. अंत में रूप अरूप बन जाता है. रूप भले ही प्रेम के बिना व्यर्थता का अनुभव करे, प्रेम को रूप के सहारे की आवश्यकता नहीं रहती. इसे ही उर्दू साहित्य में 'इश्क़–मज़ाज़ी' से 'इश्क़–हक़ीकी' तक पहुँचना कहते हैं.

गुलाबजी प्रेम के आत्मिक रूप के पक्षधर हैं. वासना के पंक से अलिप्त इस प्रेमरूपी कमल को उन्होंने देवाराधन का सम्मान दिया है. यद्यपि इस दिव्य प्रेम के सम्मुख लौकिक प्रेम अत्यन्त निम्न कोटि का जान पड़ता है

पर प्रायः प्रेम शब्द से उसीका बोध होता है जिसका कवि को खेद है.

"हाय जिस दिन कंटकों में
फूल बिंधवाये गये थे
व्योम के वासी धरा पर
खींच कर लाए गए थे
प्रेम को सींचा गया था
वासना की क्यारियों में
सीपियों में शुभ्र मोती
कैद करवाये गये थे
था मिला उस रोज कवि को,
यह निराशापूर्ण जीवन"
(ग्रं. १, भाग १, पृ. ५५)

कवि प्रेम के उदात्त रूप की स्थापना करते हैं. वे प्रेम को उस उच्च भावभूमि तक पहुँचा देते हैं जहाँ विरह और मिलन में भी कोई अंतर नहीं रह जाता. वहाँ मिलन विरह-सा शंकित और विरह मिलन-सा सुखद होता है. प्रेम की इस उच्च दशा को 'आनन्द-दशा' कह सकते हैं. यहाँ प्राप्य-अप्राप्य का भेद समाप्त हो जाता है. यह प्रेम चिर-पुरातन होते हुए भी चिर-नवीन है. गुलाबजी मूलतः प्रेम और सौन्दर्य के कवि हैं.

"ईश्वर है सौंदर्य प्रेम ही एक धर्म है मेरा"
(ग्रं. १, भाग १, पृ. १२७)

प्रेम का आधार सौंदर्य है किन्तु यह वह सौंदर्य नहीं जिसके वर्णन में रीतिकालीन कवि व्यस्त रहे. कवि उस आन्तरिक छवि के पुजारी हैं जो नख-शिख-वर्णन के बाद भी छूट गयी.

"कहाँ वे नयन,
नासिका, कपोल, भ्रूरेखा
मैंने तो तुम्हारी मुस्कान के सिवा
कुछ भी और नहीं देखा."
(ग्रं. २, पृ. २३४-२३५)

जिस तत्त्व के लिए गीता में "मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः," कहा गया है, कवि भी मन से भी परे उस अव्यक्त रूप तक पहुँचना चाहते हैं.

"नयन की नीलिमा के पार
जैसे मन तुम्हारा है
कि मन के पार भी जैसे मधुर
अव्यक्त-सा कुछ है."
(ग्रं. ३, पृ. १२६)

कवि जिस रूप की आराधना करते है वह सामान्य नहीं.

"मैं तो उस रूप की आराधना करता हूँ
जो तुम्हारी आँखों में तिरता-तिरता
मेरे प्राणों के तीर पर ठहर गया है
मेरी समस्त चेतना को सुगन्धित कर गया है"
(ग्रं. २, पृ. १२७)

प्रेम मन का मोल है. अनोखा है यह मिलन जिसमें देह न साधक है न बाधक.

"जहाँ हम मिलते हैं
पंचभूतों से परे
वह हमारी आत्मा की रंगस्थली है
वहाँ हमारी भावनाओं की सुगन्ध उड़ती है"
(ग्रं. २, पृ. २७३)

जिस छवि की ललक से प्रेम प्रस्फुटित होता है

वह तो वियोग में ही दिखती है. मिलन में उसका अभाव होता है. अतः कवि विरह को मिलन से अधिक श्रेयस्कर पाते हैं. काव्य–शास्त्र के आचार्यों ने भी विरह को प्रेम का परिष्कृत रूप माना है. विरह प्रेम को पुष्ट करता है और उस द्वैत को बनाए रखता है जिसके कारण प्रेम जीवित रहता है. विरह की आँच में तपकर प्रेम अपने विशुद्ध रूप को प्राप्त करता है और कंचन–सा निखरता है.

"माना कि हम एक नहीं हो सकते
मैं भी विवश हूँ, तू भी विवश है
पर यह द्वैत ही तो
हमारे प्रेम को जीवित रखता है"
(ग्रं. ३, पृ. २२७–२२८)

"आँच में तप वियोग की प्रतिपल
प्रेम पाता नवीन दृढ़ता है"
(ग्रं. ३, पृ. १४१)

कवि विरह में उस चरम अवस्था का अनुभव करते हैं जहाँ 'माधव–माधव' कहते–कहते राधा स्वयं माधव हो जाती है.

"आइने को क्या हो गया है
जब अपना मुँह देखता हूँ
तुम्हारी सूरत दिखायी देती है."
(ग्रं. २, पृ. २१)

प्रेम एक उच्चकोटि की भावना है. जैसे फूलों का सच्चा प्रेमी कभी उन्हें नहीं तोड़ता वैसे ही सच्चा प्रेमी भी न कष्ट देता है, न लोभ दर्शाता है.

"सच्चा प्रेमी तो वही है
जो स्वयं को ही
फूल की सुगन्ध में बदल लेता है,

पंखड़ियों को हाथ लगाए बिना ही
झूमता हुआ बाग़ से चल देता है"
(ग्रं. २, पृ २३०)

प्रेम शाश्वत है. पूर्व अनुराग कभी नहीं छूटता. चाँद के दाग की तरह वह हृदय पर अपनी छाप बनाए रखता है. विपरीत परिस्थितियों की आँधी में प्रेम की लौ प्रकट रूप से तो बुझ जाती है किन्तु अन्तर में वह सदैव जलती रहती है.

"एक लौ आँधियों में बुझी
और बुझकर भी जलती रही"
(ग्रं. ३, पृ. २०५)

कवि ने प्रेम को दैहिकता के पिँजड़े से निकाल कर स्वतन्त्र आकाश में उन्मुक्त उड़ान भरने की शक्ति दी. प्रेम में मिली असफलता और निराशा मनुष्य के द्वार अवरुद्ध नहीं करती. यह प्रेम तथा विरहानुभूति ही है जो प्रेरणा बनकर कवि को काव्य–सृजन की ओर उन्मुख करती है.

"जो जीवन में दुःख की घटा बन गयी है
वही काव्य की प्रेरणा बन गयी है"
(ग्रं. ३, पृ. २३८)

"उनकी नज़रों से छिपाकर उन्हींसे मिलना था
हम ग़ज़ल बनके न आते तो और क्या करते!"
(ग्रं. ३, पृ. २९६)

"प्रेमपाश में बाँध किसीने ये सब नाच नचाये"
(ग्रं. १,भाग २, पृ. ५६)

कवि ने प्रेम का सर्वत्र गम्भीर और उदात्त रूप प्रस्तुत किया है. उन्हें अभिसार के लिए चाँद नहीं चाहिए, चाँदनी पर्याप्त है.

"चाँद को चाहे रहे, जिस धाम रहने दो
चाँदनी को बस हमारे नाम रहने दो"
(ग्रं. १, भाग२, पृ. ८४)

"चाँद-सी गिरिघाटियों के पार तुम बसती रहो
अश्रुमय दृग-पुलिन पर बन चाँदनी हँसती रहो.
मैं उसीमें निज प्रणय-अभिसार कर लूँगा"
(ग्रं. १, भाग १, पृ. १४७)

कवि की प्रेमानुभूति में उर का उल्लास है, पीड़ा की मिठास है. प्रेमरहित होने से प्रेम में असफल होना अच्छा है क्योंकि प्रेम ही तो मनुष्य को पूर्णता प्रदान करता है.

"होता नहीं उर में उल्लास कभी गाता मैं!
पीड़ा नहीं होती तो मिठास कहाँ पाता मैं!
भूलें न करता यदि कविता बनती कैसे!
होता नहीं प्रेम तो अपूर्ण रह जाता मैं "
(ग्रं. ३, पृ. ३७६)

रूप

सामान्य अर्थ में रूप सुन्दरता का पर्याय है. रूप का अर्थ आकार भी होता है. यद्यपि कवि के द्वारा यह दोनों अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है पर प्रमुखतः इसका उपयोग सौंदर्य के स्थान पर हुआ है.

अपने विशिष्ट अर्थ में रूप भी प्रेम की तरह एक उच्च कोटि का भाव और एक दिव्य तत्त्व है. रूप व्यक्ति की चेतना पर पड़ा प्रेम का प्रतिबिम्ब है. वह विधाता का वरदान है. वह फूल नहीं उसका हास है, चाँद या चाँदनी नहीं उनका भी सत्त्व है. अपने उदात्त रूप में वह ईश्वर के समकक्ष पहुँच जाता है.

"फूल के हास से बना है रूप
चाँद की छाँह से छना है रूप
चेतना–मुकुर, प्रेम का प्रतिबिम्ब
ईश की आत्मकल्पना है रूप"
(ग्रं. ३, पृ. १२९)

रूप अबोधगम्य और अनासक्त होता है. यह एक ऐसा चंचल तत्त्व है जो छूते ही पारे–सा बिखर जाता है, फूल–सा मुरझा जाता है, ओस–सा उड़ जाता है, साँझ की धूप–सा ढल जाता है, बिजली–सा कौंधकर छिप जाता है और भोर के तारे–सा अदृश्य हो जाता है

"न तुम्हारा न हमारा है रूप
फूल है, ओस है, पारा है रूप
साँझ की धूप, चमक बिजली की
डूबता भोर का तारा है रूप"
(ग्रं. ३, पृ. १२८)

व्यष्टिगत स्तर पर इससे रूप की परिवर्तनशीलता, नश्वरता और क्षणभंगुरता निर्दिष्ट होती है तो समष्टिगत रूप के सन्दर्भ में इससे उसकी वायवीयता, कोमलता, और सूक्ष्मता इंगित होती है. रूप स्पर्श अथवा वर्णन करने के प्रयास में उड़नछू हो जाता है, पकड़ में नहीं आता. इन्हीं कारणों से रूप को शब्दों में बाँधना और परिभाषित करना कठिन रहा है.

"रूप देखा तो जा सकता है,
पाया नहीं जा सकता
वह चन्द्रबिम्ब के समान है
जिसे लहरों पर से उठाया नहीं जा सकता"
(ग्रं. ३, पृ. २२३)

कविगण रूप का वर्णन करते-करते थक गये पर चीरहरण के प्रयास में दुःशासन की भाँति असफल रहे. बाह्य रूप के वर्णन का जब यह हाल है तो आन्तरिक रूप के वर्णन की तो बात ही क्या!

"नयनों में तिरती रही, फिरी अधर के बीच
खुली न कृष्णा-चीर-छवि, थकीं भुजाएँ खींच"
(ग्रं. ३, पृ. १७९)

रूप एक अनुभूति है. वह एक प्रभाव है जो हृदय पर हमेशा के लिए पड़ जाता है और व्यक्ति उससे उभर नहीं पाता. श्रीकृष्ण अपनी वृद्धावस्था में भी हमें किशोर ही दिखायी देते हैं क्योंकि हमने उनकी वही छवि अपने हृदय में बसा ली है.

"कब आयी कैसे गयी, जान न पाया ठीक
नयन-निकष पर कस गयी, कंचन की-सी लीक"
(ग्रं. ३, पृ. १८३)

रूप में अन्तर्विरोधी गुण वर्तमान रहते हैं. इसमें बाँकपन है तो सरलता भी, विष है तो संजीवनी भी. यह यदि जलाता है तो जलन को शान्त करनेवाली शीतलता भी देता है. सीमा में बँधकर जो रूप क्षणभंगुर है, वही असीम होकर शाश्वत और कालजयी हो जाता है.

"एक फूल के कुम्हलाते ही·
खिल उठते प्रसून लाखों"
(ग्रं. ३, पृ. २७)

रूप अबोधगम्य और अनासक्त होता है. वह एक सूक्ष्म तत्त्व है जिसका केवल अनुभव किया जा सकता है. हृदय इसका अनुभव नेत्रेन्द्रिय के द्वारा करता है किन्तु इसे छूने, पाने या पकड़ने का प्रयास व्यर्थ है. यह मोती में बंद जलधारा के स्पर्श की तरह अलभ्य तथा दीपक की ज्योति की तरह अतनु है.

"मोती में बंदी पानी की
धारा छुई न जाती"
(ग्रं. १, भाग १, पृ. २६२)

"कैसे भर लूँ प्राण में तन–सुषमा सुकुमार
दीपक की–सी जोत यह, पानी की–सी धार"
(ग्रं. ३, पृ. १७९)

रूप एक आन्तरिक गुण है. यह व्यक्ति के विचारों, कार्यों में भी विद्यमान रहता है. इस आन्तरिक गुण के कारण बाह्य रूप से सामान्य या कुरूप व्यक्ति भी रूपवान दिखते, आकर्षित करते तथा मन को मोहते हैं. आँखें हृदय का दर्पण होती हैं. सुन्दर भावना–वाले अंतःकरण की छवि भी सुन्दर ही दिखेगी. अतः सर्वोत्तम रूप वही है जो आँखों में दिखायी देता है. आँखों से व्यक्ति का आन्तरिक सौंदर्य – सुन्दर भावपूर्ण हृदय प्रकट होता है.

"हमने माना कि हरेक रंग में मादक है रूप
रूप चितवन से जो बरसा है कभी, और ही है"
(ग्रं ३, पृ. २००)

रूप की परदर्शिता द्रष्टा को भी शुभ्रता से आवेष्ठित कर देती है.

"रूप की विमल पारदर्शी छवि
दृष्टि में भर रही गुराई-सी"
(ग्रं. ३, पृ. १२६)

तुलसीदासजी ने "जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी" कहकर रूप को द्रष्टा के दृष्टिकोण पर आधृत माना है. एक ही रूप विभिन्न हृदयों में प्रेम, द्वेष और भय का संचार करके क्रमशः सुन्दर, असुन्दर और भयावना दिखायी देता है. वस्तुतः हमारी आँखें वही देखती हैं जो हमारा हृदय देखना चाहता हैं. जैसे सावन के अंधे को सब जगह हरा ही हरा दिखायी देता है उसी प्रकार प्रेम से परिष्कृत हृदय को सर्वत्र रूप ही रूप दिखायी देता है.

"रूप की मृण्मयी शिखा से ही
प्रेम की अमर ज्योति निकली है"
(ग्रं. ३, पृ. १२८)

रूप प्रेम का आधार है. रूप और प्रेम में अन्योन्याश्रित संबन्ध है. प्रेम की ज्योति जगाने के लिए रूप प्रेरक का कार्य करता है. पर दूसरी ओर रूप वहीं दिखायी देता है जहाँ प्रेम का दृष्टिक्षेप होता है. इस प्रकार रूप की अवस्थिति प्रेम के कारण ही है. प्रेम का प्रारंभ यद्यपि रूप के कारण होता है पर कालान्तर में उसे इस आधार की भी आवश्यकता नहीं होती. प्रेम अपने बल पर रूप की सृष्टि करने में समर्थ है.

"रूप मुहताज़ है बन्दों की नज़र का लेकिन
बन्दगी रूप की मुहताज़ नहीं होती है"
(ग्रं. ३, पृ. २९७)

संसार रूप और नाम – इन दो आधारों पर टिका है. व्यक्ति वास्तव में न रूप है न नाम. ये दोनों तो उसके आवेष्ठन मात्र हैं, पहचान के लिए. नाम भावना के संप्रेषण का आधार है. संप्रेषण का यह कार्य मृत्यु के पश्चात नाम से विच्छिन्न होने की स्थिति में भी नाम के द्वारा ही संपन्न होता है.

"कि मृत्यु के बाद
रूप और नाम दोनों ही मेरे लिए ही व्यर्थ होंगे
तो भी मन को इस विचार से
अधिक संतोष मिलता है
कि मेरे नाम से भेजे गए संदेश
शायद उस समय भी
मुझ तक पहुँचने में समर्थ होंगे.
(ग्रं. २, पृ. १४८-१४९)

अर्थात नाम के आधार पर ही अनाम तक पहुँचा जा सकता है. इसी प्रकार रूप के आधार पर ही अरूप तक पहुँचा जा सकता है. या यों कहें कि रूप का उदात्त रूप ही अरूप हो जाता है जो नित्य नवीन है. न उसके प्रति तृषा कम होती है और न उसका क्षय ही होता है.

"रूप की चिर अरूप भाषा है
प्रेम पीकर सदैव प्यासा है
चाँदनी की सुधा न कम होती
चाँद क्षण-क्षण नया-नया सा है"
(ग्रं. ३, पृ. १३५)

प्रकृति में सर्वत्र उन्मुक्त रूप के दर्शन होते हैं

किन्तु मनुष्य ने इस पर भी कई पहरे डाल रखे हैं. कवि रूप की स्वतन्त्रता के पक्षधर हैं.

"कुसुम, प्रदीप, कुन्ज, निर्झर सब,
सुन्दर फिर भी बन्धरहित
मानव की ही सुन्दरता क्यों
रक्षित इतने यत्नसहित"
(ग्रं. ३, पृ. ३५)

अपने अन्दाज़े–बयाँ, भावों की सूक्ष्मता, पीड़ा की मिठास और निर्दिष्ट कलेवर के कारण काव्य–रूपों में ग़ज़ल का विशिष्ट स्थान है. नारी–सौंदर्य के वैशिष्ट्य के कारण कवि इसे विधाता की ग़ज़ल से उपमित करते हैं.

इस प्रकार गुलाबजी रूप के सूक्ष्म रूप के पक्षधर हैं. दीपक में ज्योति और जल में धारा की तरह स्थूल रूप में सूक्ष्म रूप अन्तर्निहित रहता है. यह सूक्ष्म रूप ही रूप की आत्मा होता है. कवि इसीका सम्मान और आराधना करते हैं. अपने औदात्त्य में यह प्रेम से कदापि निम्न नहीं. यह रूप देह की सीमा में वन्दी नहीं होता. इसी रूप को कवि सम्बोधित करते हैं और इसकी पुकार पर ही सृष्टि के समस्त सौंदर्य का तिरस्कार करके दौड़ पड़ते हैं.

"देह नहीं देहेतर से मैं करता प्यार रहा हूँ
तुममें एक और जो तुम है, उसे पुकार रहा हूँ"
(ग्रं. १, भाग १, पृ. २६२)

"वन, पर्वत, नदी, कछार, सभी सुन्दर थे
पर मुझे तो तुमने पुकारा था,
हरियाली की बाँहों में मैं कैसे रुकता भला!"
(ग्रं. २, पृ. ११४)

नारी–भावना

नारी संसृति का केन्द्र–बिन्दु है. उसके बिना नर अधूरा है. वह जीवन देती है, जीवन की रेखाओं में रंग भरती है, जीवन को जीने की प्रेरणा देती है, लक्ष्य देती है और जीवन को जीने योग्य बनाती है. वही शब्दों को अर्थ देती है.

भारतीय साहित्य में नारी के सामान्य रूप का ही विवेचन, विश्लेषण और चित्रण अधिक हुआ है. उसके व्यक्तित्व का विकास प्रायः नहीं के बराबर मिलता है.

नारी के प्रति धर्म की, समाज की और स्वयं नारी की मान्यताएँ भिन्न हैं. धर्म ने उसे मुक्ति–मार्ग की बाधा माना. समाज ने पुरुष की अनुगामिनी, छाया और दासी की संज्ञा दी. स्वयं नारी भी अपने आपको, अपने गुणों और शक्तियों को समझने में असमर्थ रही. उसने वही मान लिया जो उसके विषय में कहा गया. सदियों से कवियों ने अपनी प्रेरणा–शक्ति नारी को अपनी कल्पना के आधार पर चित्रित किया है. उसे अबला, भीरु, देवी, रूपसी आदि नाम दिये. बाद के कवि उसके नख–शिख–वर्णन और हाव–भाव तक पहुँचे.

द्विवेदीयुगीन नारी प्रेयसी से अधिक समाजसेविका दिखायी देती है. हाँ मध्यकालीन स्वच्छन्द प्रेमी कवियों, घनानंद, बोधा आदि से लेकर आधुनिक काल में छायावादी कवियों का नारी के प्रति अलग दृष्टिकोण रहा है. इन्होंने नायिका के सूक्ष्म गुणों को अधिक महत्त्व दिया है. इसे ही लक्ष्य कर के गुलाबजी कहते हैं–

"नारीत्व, मिली तुझको दुर्बलता की संज्ञा
अज्ञान मानती ही आई चिर-दिन प्रज्ञा
भावना किसीने कहा, भ्रान्ति, विभु की माया
. . .
आत्मा-विहीन केवल छवि की कंचन-रेखा"
(ग्रं. ४, पृ. १३८-१३९)

सबने नारी का विश्लेषण अपने पूर्वाग्रहों के आधार पर किया. उन्होंने केवल बाह्य आवरण देखा, उसका अन्तःकरण अनदेखा ही रह गया. छायावादी कवियों ने उसके अंतःकरण तक पहुँचने के प्रयास किये तो उसे 'रहस्यमयी' पाया. अपनी प्रारंभिक कविता में कवि भी कुछ ऐसा ही कहते हैं.

"यौवन के जागरण-प्रहर की
मोह-निशा-सी नारी"
(ग्रं. ४, पृ. ११०)

नारी के मन की थाह पाना अत्यन्त कठिन, लगभग असंभव है. कवियों को इसकी पद-पद पर अनुभूति हुई है.

"पढ़ पाया कौन वक्र तेरी भ्रूलिपि चंचल
स्मिति में है रोष, रोष में प्रेम, प्रेम में छल."
(ग्रं. ४, पृ.१३५)

"उघड़ें सप्ताश्चर्य, प्रकृति के
पट हों सभी अनावृत भी
फिर भी गति रमणी के मन की
सदा रहेगी अविगत ही"
(ग्रं. ४, पृ. १४३)

वह स्वयं भी अपने मूल्य को नहीं समझती.

"मैं कली! सूँघ सब जिसे निमिष में दें उछाल
मैं रत्न कि रख लें जिसको युग-युग तक सम्भाल
मैं जीवन-तरु का मूल कि उसका आलबाल
मैं विष की प्याली हूँ कि अमृत से भरा थाल"
(ग्रं. ४, पृ. २०७)

क्या नारी का आविर्भाव नर को अपने श्रेय से नीचे गिराने के लिए हुआ है? उसकी उपादेयता क्षणिक है या स्थायी? नर को नारी का अवलम्ब और आश्रयदाता माननेवाले यह नहीं जानते कि वस्तुतः नारी ही नर के लिए उससे बड़ा आश्रय रही है. वह जग की झुलसानेवाली ज्वाला के बीच शीतल फुहार-सी है. इसकी अनुभूति होने पर भी कोई इसे स्वीकार नहीं कर पाता. सत्य तो यह है कि नारी ने जीवन-वेदी पर सदा नीरव रहकर निस्पृह भाव से अपना बलिदान किया है. वह प्रेमिका, पत्नी, माता, सहचरी आदि रूपों में नर को सुख-शान्ति और शीतलता प्रदान करती आई है. उसका मोल सदा से ही कम आँका गया.

"प्रिया, प्राण की प्राण, बन्धु,
जीवन की साथी
पत्नी रत्नमयी, यत्नों से
रक्षित थाती
आत्मा- सहचर कब तुझको
प्रिय ने पहिचाना
सीखा जिसके लिये सदा
तूने मिट जाना"
(ग्रं. ४, पृ. १९२)

स्त्री-पुरुष का संबंध अन्योन्याश्रित है. नारी का जीवन पुरुष के बिना सूना है.

"पर कन्त बिना नारी ज्यों कलिका छिन्नवृन्त
फिर से जीवन का पाठ न पढ़ने में समर्थ
चिर–शून्य, अनावश्यक, अतीत–सी बिना अर्थ"
(ग्रं. ४, पृ. १३७)

किन्तु पुरुष भी नारी के प्यार के बिना संज्ञाहीन है, चाहे इसे उसका अहं स्वीकार करे या न करे.

"न विष भक्षण कर अब तक व्यग्र
मिट चुका होता यह संसार
उठाता जो न धूल से उसे
मधुर नारी के उर का प्यार"
(ग्रं. ४, पृ. १४६)

पुरुष–प्रधान समाज ने नारी की एक आदर्श प्रतिमा गढ़ी और मर्यादाओं और परंपराओं की वेदी में उसे जकड़ दिया और वह विनम्र भाव से उन्हें अपनाकर युगों से उन्हीं आदर्शों की बलि चढ़ती गयी. भावुकता ने उसके मन को बाँध दिया.

"उषे! इसी भावुकता ने तो
बेच दिया मन को बेमोल
अपना बंधन आप बने जब
नारी, कौन सके फिर खोल!"
(ग्रं. ४, पृ. १४३)

गुलाबजी नारी–स्वातंत्र्य के पक्षधर हैं. यह स्वतंत्रता उच्छृंखलता नहीं है. यह स्वतन्त्रता है युगों से आ रही व्यर्थ परंपराओं से, स्व–स्वीकृत दासता से, नर–नारी के भेद–भाव से. जो बात पुरुष के लिए गर्व का विषय हो वह स्त्री केलिए निन्दा का विषय क्यों हो?

कैसी विलक्षण बात है कि संसार को धारण करनेवाली शक्ति, प्रेम को नारी के संसर्ग से दूषित मान

लिया जाता है.

"जो प्रेम अमर, मुझको छूकर वह मलिन दीन
कैसी मृण्मयता यह, हिरण्य भी मूल्यहीन
जो शक्ति पुरुष की, दुर्बलता मेरी वही न
मैं तिल-तिल मिटकर हो जाऊँ तम में विलीन!
हा क्रूर लेखनी रोको"

(ग्रं. ४, पृ. १३५)

कवि नारी-संसार के रचयिता कवियों से और स्वयं विधाता से भी नारी के प्रति पूर्वाग्रह का विरोध करते हैं. नारी जो नख-शिख-वर्णन का उपादान रही, पातिव्रत्य और वात्सल्य जैसे उच्च भावों का स्रोत रही, आज इन सबसे मुक्त होकर एक मानवी रहना चाहती है, केवल एक मानवी. पंतजी ने भी कहा, "मुक्त करो, नारी को मुक्त करो."

कवि स्त्री-पुरुष को बराबरी का अधिकार देते हैं. स्त्री के प्रति प्रेम-भाव पुरुष की पराजय का द्योतक नहीं है.

"नारी सहधर्मिणी आज, फिर कौन किसे झकझोरे!
वह न पराजय कभी मिली जो
तुम्हें विजय-प्रतिमा-सी
प्रेम सहज अधिकार तुम्हारा
ओ जीवनाभिलाषी!"

(ग्रं. ३, पृ. ८६-८७)

प्रसादजी के मनु भी अपने पुरुषत्व-मोह में नारी की सत्ता को भूल गये थे. पुरुष के इस अहं को नारी ने गंभीरतापूर्वक मौन रहकर सहन किया है. उसने उसके कणभर प्रेम से भी अपनी दुनिया बसा ली. एक स्नेहिल दृष्टि में वह सारे मान-अभिमान को भूल जाती है और उसके सभी दोषों को क्षमा कर देती है.

"स्वार्थ को दूँ दोष मैं!
युग से पुरुष की यह कहानी
कब न जाने बँध गये थे
साथ, पत्थर और पानी"
(ग्रं. १, भाग १, पृ. २०८)

नारी का सबसे बड़ा गुण क्षमाशीलता का है. पति के सौ दोषों को क्षमा करनेवाली यदि कभी स्वयं को दोषी पाती है तो क्षमा नहीं कर पाती, दंडित करती रहती है. पति के एक स्पर्श से उसकी सभी भूलों को भूला देती है.

"आज मेरी भूल सारी भूल जाना चाहती हो!
स्नेहमय पा स्पर्श सिर पर फूल जाना चाहती हो!
पर अतीत मिटा निमिष में!
सरल है न भविष्य इतना
क्षमामयि! दोषी पगों की धूल पाना चाहती हो!"
(ग्रं. १, भाग १, पृ. २०७)

नारी प्रेमस्वरूपा है. वह अपने प्रेम को केवल एक पर केन्द्रित करती है और उसके प्रति प्रतिबद्ध रहती है. प्रेम का महत्त्व उसकी दृष्टि में सर्वोपरि है. यह प्रेम ही उसकी परीक्षा लेता है. 'उषा' की नायिका प्रेम में असफल होने से दुःखकातर है. प्रेमी से विदा लेते समय कही गयी मर्मस्पर्शी बातें परंपरानुसार सत्य हैं.

"एक बार ही नारी का मन
नव कदली–सा फलता
एक बार ही इस उपवन से
मधुर वसन्त निकलता
साथी विश्व–विषमता विष–सी,
पर किसका वश चलता!
जीवन भर स्मृति लिए तुम्हारी

हृदय रहेगा जलता"
(ग्रं. ४, पृ. ११०)

किन्तु प्रेम का अधिक उन्नत, दीप्त और दृढ़ रूप, जिससे वह स्वयं पहले अपरिचित थी, आगे देखने को मिलता है. यह वैवाहिक प्रेम है जो पातिव्रत्य की वेदी पर स्थित होता है. इस प्रेम में अपनी शक्ति है. इसे विरह-मिलन के पलड़ों पर नहीं तौला जा सकता. नारी स्वेच्छा से इस प्रेम को श्रेष्ठतम मानती है. कवि नारी के इस रूप से अभिभूत हैं.

"यह नहीं कुमारी का प्रलाप, पतिव्रतधारी
पति-स्नेह-वंचिता एक कह रही है नारी"
(ग्रं. ४, पृ. १३७)

एक और नारी-चरित्र है 'अहल्या' का जिसने विवाहेतर प्रेम से प्रलुब्ध होने के बाद अपनी भूल को समझा, स्वीकार किया और पश्चात्ताप किया. भूल का अहसास होने से भूल समाप्त हो गयी. कवि मानवतावादी दृष्टिकोण से नारी का मूल्यांकन करते हैं. राम द्वारा स्वीकृत सीता को समाज नहीं सह पाया था किन्तु संस्कृत और हिन्दी साहित्य में उपेक्षिता और कलंकिनी अहल्या को राम के साथ कवि ने भी क्षमा कर दिया.

"वह क्षणिक हृदय की दुर्बलता, वह पाप-भार
कल का सारा जीवन, जैसे बीती बयार"
(ग्रं. ४, पृ. २४६)

जिस काल के समाज में विवाहपूर्व प्रेम, विवाहेतर प्रेम और पुनर्विवाह की कल्पना या प्रावधान ही नहीं था, इन परिस्थितियों का कोई समाधान भी नहीं था. 'अहल्या' तथा 'उषा' में कवि ने परंपरागत मान्यताओं और स्वतन्त्र विचारों की कशमकश के बाद समाधान प्रस्तुत किया है.

नारी के प्रति गुलाबजी का दृष्टिकोण आदर्शोन्मुख यथार्थवादी है. उनकी दृष्टि में नारी सौंदर्य, प्रेम, क्षमा, विश्वास और दृढ़ता की प्रतिमा है. युगों से वह दमित रही है. द्विवेदी-युग और छायावाद ने उसे सम्मान देना प्रारंभ किया किन्तु अब भी वह वेदी पर स्थित प्रतिमा ही थी. उसमें जीवन के लक्षण प्रकट होने लगे थे किन्तु जागृति के नहीं. गुलाबजी ने नारी को उसकी संपूर्ण गरिमा और जीवन्तता के साथ स्वीकार किया है.

नारी-चरित्र का पूर्ण तेजस्वी और मानवीय रूप जैसा गुलाबजी के साहित्य में मिलता है, अन्यत्र नहीं दिखायी देता. आदिकवि वाल्मीकि ने सीता के अयोध्या वापस न लौटने के निर्णय द्वारा नारी का गरिमामय रूप प्रस्तुत किया है. परवर्ती कवियों में किसीने भी नारी की स्वतंत्र इकाई और तेजस्विता को साहित्य में पूर्ण मान्यता और वाणी नहीं दी. तुलसीदास, गुप्त, प्रसाद- सभी ने उसका समर्पणशील रूप ही प्रस्तुत किया. नारी सदा अनुगता ही रही. यहाँ तक कि 'उर्वशी' में जब नायक पुरुरवा गन्धमादन पर्वत पर उर्वशी के साथ जाते समय पत्नी को इसका सन्देश भेजते हैं तो वह विनीत भाव से स्वीकार ही करती है. वाल्मीकि की सीता के सम्मुख औशीनरी (पुरुरवा की पत्नी) का चरित्र नारी की व्यक्तित्वहीनता और तेजहीनता का निदर्शन करता है. दिनकरजी का यह चरित्र-चित्रण एक पृष्ठगामी कदम कहा जाएगा. मध्यकाल से आधुनिक काल में नारी ने विकास-क्रम से अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व की घोषणा की है. चरित्र-चित्रण के संदर्भ में गुलाबजी के नारी-चरित्र अत्यन्त ओजस्वी हैं.

'कच-देवयानी'में कच की तुलना में देवयानी अधिक मुखर तथा तेजस्वी है. वह कच की मानसिक

तुच्छता और स्वार्थपरता को बड़ी स्पष्टता से उद्घाटित करती है और परित्यक्त किए जाने पर भी कच की तुलना में अधिक गौरवशालिनी दिखायी देती है.

"यह कैसा झूठा सत्य,
भीरु वीरत्व, सदय निर्दयता है!
जो हृदय निमिष में चूर करे
वह भी अच्छी सहृदयता है!
तुम कीर्ति-कुमारी के प्रेमी,
दे मुझे स्नेह की भीख रहे
देवोचित आडंबर है यह,
अपने को छलना सीख रहे!"
(ग्रं. ४, पृ. ७८)

"पढ़ विजन-कुमारी के उर की
गोपन भाषा सहृदय स्वर से
अब व्यंग्य हँसी लिखते हो तुम,
पंखुरियों पर निर्दय कर से!"
(ग्रं. ४, पृ. ८२)

नायिकाप्रधान महाकाव्य 'उषा' में भी नायक राजीव के स्वार्थी, पलायनवादी आत्मलीन चरित्र की तुलना में उषा का चरित्र अत्यन्त तेजस्वी, त्यागपूर्ण और महत् प्रमाणित होता है.

'अहल्या' में अहल्या के परिप्रेक्ष्य में इन्द्र को अत्यन्त स्वार्थी, लोलुप तथा उत्तरदायित्वहीन चित्रित किया गया है.

'आलोक-वृत्त' के नायक महात्मा गाँधी हैं तथा उनके चरित्र के आलोक में सार्वजनीन मानवीय मूल्यों की स्थापना उसी प्रकार की गयी है जिस प्रकार रामकथा के द्वारा भक्ति की. पर वहाँ भी हम पाते हैं कि नायक गाँधी पर

कस्तूरबा का चरित्र हावी हो जाता है. कस्तूरबा के द्वारा किये गये दोषारोपण के आगे गाँधीजी निरुत्तर हो जाते हैं.

"सबको तो देते रहे तोष
बापू, बा का भी रहा होश!"
(ग्रं. ४, पृ. ३८४)

स्वयं बापू भी बा की महत्ता से अभिभूत थे.

"मेरी सेवा में ही लय थी
वह मुझसे अधिक राममय थी
दे मुझे महात्मा-पद भास्वर
वह बनी नींव की ज्यों पत्थर"
(ग्रं. ४, पृ. ३१३)

इसी प्रकार हम 'गीत-वृन्दावन' की राधा और 'सीता-वनवास' की सीता के चरित्र की गरिमा और तेजस्विता को क्रमशः कृष्ण और राम के चरित्र पर हावी होते देखते हैं. कवि की नारी के प्रति सहानुभूति और पुरुष की तुलना में उसका श्रेष्ठ और अधिक उदात्त चरित्र-चित्रण 'कच-देवयानी', 'उषा', 'अहल्या', 'आलोक-वृत्त', 'गीत-वृन्दावन','सीता-वनवास' और 'गीत-रत्नावली' में निरंतर विकसित और नये-नये रूपों में देखा जा सकता है. ये एक प्रकार से उनकी काव्य-यात्रा के विभिन्न विजय-स्तम्भ हैं. नारी की श्रेष्ठता की गवाही कवि का हृदय देता है.

"नारी धरती का वह सर्वोत्तम रत्न, आह!
उसको पाने की किसके मन में नहीं चाह"
(ग्रं. ४, पृ. १३५)

रहस्य–भावना

रहस्यभावना का अवतरण साहित्य के क्षेत्र में रहस्यवाद के रूप में हुआ है. आचार्य शुक्ल के अनुसार "चिन्तन के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है, भावना के क्षेत्र में वही रहस्यवाद है."

इस प्रकार रहस्यवादी कवि आत्मा और परमात्मा में अद्वैत मान कर चलता है. भावना के क्षेत्र में रागानुभूति अनिवार्य है. अतः रहस्यवादी कवि परम सत्ता के प्रति रागात्मक संबंध की अनुभूति भी करता है. यह रागात्मक सम्बंध सामान्य लौकिक सम्बंध नहीं है. इसलिये इसके मूल में जिज्ञासा का होना भी स्वाभाविक है. जिज्ञासा के संकेत वैदिक काल से मिलते हैं

"को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्
कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः
अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेनाथ
को वेद यत आबभूव"

(ऋग्वेद, १०, १२९, नासदीय सूक्त)

अर्थात् (सत् का) यह विसर्ग यानी पसारा किससे या कहाँसे आया? यह (इससे अधिक) प्र यानी विस्तारपूर्वक यहाँ कौन कहेगा? इसे कौन निश्चयात्मक जानता है? देव भी इस (सत् सृष्टि के) विसर्ग के पश्चात् हुए हैं. फिर वह जहाँ से (उत्पन्न हुई) उसे कौन जानेगा?

(कौन ठीक–ठीक जानता है? कौन यह सच–सच बता सकता है कि इस सृष्टि का उद्भव कहाँ हुआ, कैसे हुआ? सृष्टि का निर्माण स्वतः ही हुआ था या किसीने

किया, यह सब कुछ वह अंतरिक्षवासी ही जानता है; या वह भी जानता है या नहीं – किसे पता!)

उपनिषदों में उस अद्वैत का प्रतिपादन मिलता है जो रहस्यवाद का मूल आधार बनता है.

"तत्सत्यं स आत्मा तत्वमसि"

(छान्दोग्य उपनिषद)

अर्थात् वह सत्य है, वह आत्मा है, वह तू है. इस प्रकार आत्मा और परमात्मा की एकता पुष्ट (सिद्ध) होती है.

हिन्दी कविता में रहस्यवाद कबीर–जायसी से होता हुआ छायावाद में अपने पूर्ण विकसित रूप में अवतरित होता है. कबीर, दादू आदि अपनी साधना के आधार पर, तो रहस्यवादी कवि अपनी कल्पना के आधार पर परम तत्त्व की अनुभूति करते हैं. साधना पर आधृत यथार्थ रहस्यवादी अन्त तक रहस्यवादी बना रहता है किन्तु काल्पनिक रहस्यवादिता की झंकार कालक्रम में हल्की पड़ जाती है और कभी–कभी लुप्त भी हो जाती है. सभी छायावादी कवियों में रहस्यवाद की प्रवृत्ति मिलती है.

रहस्य का अनुभूति से गहरा सम्बंध है. रहस्य की सृष्टि स्वयं रहस्य शब्द से नहीं बल्कि उसके अनुभूतिपरक शब्दों से होती है. छायावादी कवियों ने यद्यपि कल्पना के बल पर रहस्यवाद की सृष्टि की है किन्तु गुलाबजी की रहस्यभावना यहाँ पर छायावादी कवियों से भिन्न है. वह कल्पना–प्रसूत न होकर कबीर, जायसी, रवीन्द्रनाथ की रहस्यभावना के समान अनुभूत है. वे इस रहस्यलोक की केवल कल्पना नहीं करते, स्वयम् इसमें विचरण करते हैं और तब वर्णन करते हैं.

"आकाश का यह कौन सा किनारा है
जहाँ न सूरज है, न चाँद है, न तारा है

निकलने का न कोई छिद्र है, न द्वार है
यहाँ मेरा अस्तित्व है, केवल मैं नहीं हूँ,
अथवा कुछ भी नहीं है और,
मैं ही मैं सब कहीं हूँ"
(ग्रं. २, पृ. ५४)

ऐसा नहीं है कि उन्होंने इस रहस्य को भेदने का प्रयास नहीं किया किन्तु अथक प्रयासों के बाद भी यदि रहस्य की स्थिति बनी रहे तो उसे स्वीकार करना ही पड़ता है.

"भले ही साँप यह रस्सी में आ रहा है नज़र
न बीन है, न सँपेरा, कहीं भी कोई नहीं
अभी तो छाँह सी उतरी थी एक दिल में मगर
नज़र को मैंने जो फ़ेरा, कहीं भी कोई नहीं"
(ग्रं. ३, पृ. २४९)

गुलाबजी की रहस्यभावना अनुभूति पर आधृत होने के कारण अत्यन्त सशक्त है. उनकी कविताओं में हमें रहस्यवाद की विभिन्न अवस्थाओं के दर्शन होते हैं. वे मानते हैं कि जगत और प्रकृति के क्रिया-व्यापार तथा रूप-सौन्दर्य के मूल में एक शक्ति अन्तर्निहित है.

"जाना किधर है, आये कहाँ से पता नहीं
कोई चलाये जा रहा चलते रहे हैं हम"
(ग्रं.३, पृ. २४१)

परम सत्ता की अवस्थिति का उन्हें दृढ़ विश्वास है. इस विश्वास का आधार है आस्तिकता के संस्कार तथा आत्मचिन्तन. प्रकृति के कण-कण से उन्हें रहस्यमय संकेत मिलते हैं.

"मैंने तेरी तान सुनी है
सुमन-सुमन में हर तरु-तृण में

लय अनजान सुनी है

. . .

अपने मन में, हर धड़कन में
आकुल क्षण में,
रचते गान सुनी है"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. ४५-४६)

अदृश्य सत्ता के ये संकेत उनकी जिज्ञासा को उभारते हैं. उन्हें इसका समाधान नहीं मिलता.

"सम्मुख अतल महोदधि सा अज्ञात
मैं तट पर तमसात्
जग के, आधी रात
किससे पूछूँ चिर-रहस्य की बात!"
(ग्रं. १, भाग १, पृ. २०२)

इस प्रकार संकेत मिलने और साक्षात्कार न होने से उन्हें अकुलाहट होती है. वे उस अदृश्य के प्रति गहरे आकर्षण का अनुभव करते हैं.

"कैसे रूप तुम्हारा देखूँ
इन चिर-चंचल आवर्तों में
कैसे अचल सहारा देखूँ
देखूँ नाव कि देखूँ डाँड़े
जल या जल की धारा देखूँ
तुम्हीं बता दो इस हलचल में
कैसे पार किनारा देखूँ"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. ५०)

यह आकर्षण ही प्रेम की पूर्वभूमिका है. अलौकिक सत्ता के प्रति कवि ने प्रेम के विरह तथा मिलन, दोनों पक्षों का समय- समय पर अनुभव किया है. कभी वे उसके विरह से दुःख-कातर हैं तो कभी मिलन से कृतकृत्य!

"पर जिसके वियोग का दुःख है,
वह चितचोर कहाँ है
अगम सिन्धु के तीर अकेले
मन कब तक यह पीड़ा झेले,
आकर मुझे नाव में ले ले
वह किस ओर, कहाँ है"
(ग्रं. १,भाग २, पृ. ७८)

"कैसे पार उड़ूँ जीवन के
तन के, मन के, अपनेपन के!
कैसे लघुता के स्वर मेटूँ
उस विराट् से भुज भर भेंटूँ!"
(ग्रं. १, भाग १, पृ. ३४०)

उससे मिलन का ढंग भी अनूठा है.

"वह अगर कोई नहीं था तो मेरे सीने पर
ये मोतियों की रगड़ के निशान कैसे हैं"
(ग्रं. ३, पृ. ३८४)

"कोई हर साँस में आवाज देता
यहीं हूँ मैं, यहीँ हूँ मैं, यहीं हूँ"
(ग्रं. ३, पृ. २१७)

आगे चलकर यह संबन्ध पिता-पुत्र सम्बन्ध में परिवर्तित हो जाता है. सक्षात्कार के अभाव में रहस्य अभी भी बना हुआ है.

"फिर भी झाड़ी-झुरमुट की ओट से
बाँसुरी तो बजाता है
कभी फूलों में मुस्कुराता
और कभी पत्तों में गुनगुनाता है;
. . .
खिड़की के परदे हिलते हैं

तकिये पर मेरे आँसुओं के चिह्न मिलते हैं
लगता है, सारा घर किसी अनजानी
सुगन्ध से भर गया है
ओ पिता!"

(ग्रं. २, पृ. ६५–६६)

इस रहस्य को खोलने के कितने भी प्रयास किया जायें, रहस्य बना ही रहता है. ससीम इन्द्रियों से असीम का अनुभव करना असंभव है. शायद इसी लिये आसपास होते हुए भी वह पकड़ में नहीं आता.

"मैं द्वार पर द्वार खोलता जाता हूँ
पर कहीं तेरी एक झलक भी नहीं पाता हूँ"

(ग्रं. २, पृ. ७०–७१)

"कुछ तो है तेरी चुप्पी का रहस्य
जिसे तू बताता नहीं है
मुझे दूर से देखता तो रहता है
मेरे पास आता नहीं है"

(ग्रं. २, पृ. ६९)

यहाँ नियम है, संगीत है किन्तु नियामक और वादक दिखायी नहीं देता. कवि अनुरोध करते हैं,

"ओ पिता!
मैं तेरे घुटनों पर मस्तक टेकना चाहता हूँ,
तुझे निकट से देखना चाहता हूँ.
कैसी है वह रंगशाला
जहाँ से तू चाँद सूरज के गोले लुढ़काता है
बैठा–बैठा गूँथता है तारों की मणि–माला?"

(ग्रं. २, पृ. ७१)

वे जानना चाहते हैं कि क्या परमात्मा के हृदय में भी प्रेम की वैसी ही लहरें उठ रहीं हैं जैसी कवि ने अपने

हृदय में अनुभव की है. अपने बाल-चापल्य के लिए वे क्षमायाचना भी करते हैं. किन्तु उसकी चुप्पी से उन्हें सन्देह होने लगता है कि शायद सर्वशक्तिमान परमात्मा भी नियमों की श्रृंखला में बँधा होने के कारण निरुपाय है. उसमें भावना नहीं, केवल यान्त्रिकता है. न वह प्रेम करता है, न क्षमा ही.

इन प्रश्नों के उत्तर की तलाश में कवि दर्शन की गहराइयों में उतरते हैं. किन्तु वहाँ शुष्क ज्ञान के अतिरिक्त कुछ नहीं. अन्ततः प्रेम की मणि ने राह दिखायी. कवि पाते है कि सृष्टि का तो निर्माण ही प्रेम के आधार पर होता है.

"मुझे तो लगता है, मेरा प्रेम
उस समय भी जाग रहा था
रो-रोकर मचल-मचल कर वह तुझसे
अस्तित्व की भीख माँग रहा था"
(ग्रं. २, पृ. ७९)

प्राणीमात्र में प्रेम की प्यास रहती है. परमात्मा स्वयम् भी प्रेम का प्यासा है. इसीलिए उसने "एकोऽहं बहुस्याम" का निर्णय लिया. अपने एकाकीपन से ऊबकर ही उसने सृष्टि का सृजन किया है.

"प्यार की एक पुकार सुनने को
मेरे प्राण तड़पते थे,
वहाँ मेरे चारों ओर निर्लिप्तता थी,
वीरानापन था, मौन था;
तेरे साथ हँसने-बोलने के लिए ही
मैंने जीवन का नाटक खेला है
अब न मैं ही अकेला हूँ,
न तू ही अकेला है!"
(ग्रं. २, पृ. ७४)

जीवन और जगत के इस नाटक को प्रारंभ करके इसका सूत्रधार निश्चिन्ततापूर्वक सो नहीं सकता. प्राणी की दीन पुकार सुनकर वह सारे नियमों को ताक पर रखकर असीम से ससीम हो जाता है. जिस रूप में उसे बुलाया जाता है, वही रूप धरकर वह भी इस नाटक में सम्मिलित हो जाता है.

"जब भी हृदय की गहराइयों से उठकर
मेरा क्रन्दन तुझ तक पहुँच जाता है
सारी विधि-व्यवस्थाओं को लाँघकर
तू मुझे बचाने चला आता है.
(ग्रं. २, पृ. ८०)

वह सर्वशक्तिमान पिता स्वयम् कहता है-

"फिर भी कभी-कभी जब तू ज़िद में आकर
मुझे पुकारने लगता है
जीवन का दाँव हारने लगना है
और अपना सिर बार-बार
पत्थरों पर मारने लगता है
तो फिर मुझसे रहा नहीं जाता है
तेरा दुःख सहा नहीं जाता है
मैं अपने असीम को ससीम कर लेता हूँ
और जिस रूप में तू मुझे बुलाता है
वही रूप धर लेता हूँ."
(ग्रं. २, पृ. ७२-७३)

जो अज्ञात सत्ता सृष्टि के कण-कण में कार्यशील है, वही कवि के अन्तर्जगत में भी विद्यमान है और निरंतर काव्य-सृजन में लगी हुई है. जगत में सर्वत्र कवि को महारास करते हुए राधा-कृष्ण ही दिखायी देते हैं, और कुछ नहीं.

"चारों ओर मुझे राधाकृष्ण की ही
युगल मूर्तियाँ दिखायी देती हैं
आठों पहर आँखों के आगे
महारास हो रहा है"
(ग्रं. २, पृ. २५४)

जिन प्रश्नों से मनुष्य युगों से जूझता रहा है, सुलझ–सुलझ कर उलझ जाता रहा है, कवि ने सहज अनुभूतियों के माध्यम से उनका हल ढूँढने का प्रयास किया है. चिन्तन और ज्ञान के मार्ग पर चलकर तो केवल उलझाव ही पैदा होता है.

"जो देखिये तो वही वह दिखायी देता है
जो सोचिये तो उलझता है जाल, है कि नहीं"
(ग्रं. ३, पृ. २०१)

प्रचलित धार्मिक पंथों के या ज्ञान के मार्ग पर चलते समय बहुधा हम अपना मूल गंतव्य ही भूल जाते हैं और मार्ग के विधि–विधानों में ही खो जाते हैं.

"तुझ तक पहुँचने के
सारे प्रयास निष्फल हो गये
हम जिस मार्ग से भी चले,
उसीकी सुन्दरता में खो गये."
(ग्रं. २, पृ. १९०)

परमात्मा और आत्मा तत्त्वतः एक ही है. 'मैं' और 'तुम' का द्वैत बाहरी है. जिस प्रकार ससीम उपादानों से असीम का वर्णन असम्भव है उसी प्रकार रूप, रंग, रेखाओं में व्यक्त होकर भी यह आत्मतत्त्व 'मैं' अव्यक्त ही रह जाता है.

राष्ट्रीयता (देश–प्रेम)

राष्ट्रीयता की भावना आधुनिक युग की देन है. हिन्दी साहित्य की आरंभिक और मध्यकालीन रचनाओं में वीर–रस के बावज़ूद राष्ट्रीयता का व्यापक भाव नहीं मिलता. हाँ जाति–गौरव के रूप में उसकी व्यंजना अवश्य यत्र–तत्र मिलती है.

राष्ट्रीयता का भाव सार्वलौकिक तथा सार्वकालिक नहीं है. विदेशी सता से सामूहिक रूप से संघर्ष की स्थिति में यह विकसित हो जाता है. साहित्य में इसके अंकुर तो मुग़ल तथा अँग्रेजी शासन–काल में फूट चुके थे. नयी पौध के दर्शन स्वतन्त्रता–संग्राम के दिनों में हुए. इसका सघन रूप १९६२ में देखने को मिला जब स्वतन्त्र भारत को पहली बार शक्तिशाली शत्रु से जूझना पड़ा था.

समय के साथ बहुत कुछ बदलता है पर कुछ मूल बातें नहीं बदलतीं. वीर–रस और उसका स्थायी भाव उत्साह ऐसे ही तत्त्व हैं. वीर तलवार चलाये या बन्दूक, वह वीर ही है. वह देश की रक्षा करे या पूरे राष्ट्र की, उसके उत्साह में कोई भेद नहीं है. स्वतन्त्रता–संग्राम ने एक महत्त्वपूर्ण काम यह किया कि पूरे भारत को एक सूत्र में पिरोकर राष्ट्रीयता की भावना तथा देशप्रेम का आदर्श दिया. पहले जो जातीय अभिमान एक जाति–विशेष तक सीमित था, अब पूरा भारत उसमें सम्मिलित था.

"आज बँधी मुट्ठी सा कसकर
सारा भारत एक हैं
एक हमारी भारतीयता,

एक हमारी टेक है
धर्म-धुरी, रथ-अभय,
सारथी-साहस, सखा-विवेक है
गति गंगा की धार हमारी,
छेक सकेगा भेक है!"
(ग्रं. ३, पृ. ७०)

गुलाबजी मूलतः प्रेम और सौन्दर्य के कवि हैं. कहते हैं, जब रोम जल रहा था तब नीरो बाँसुरी बजा रहा था. जब भारत स्वतन्त्रता-संग्राम में जूझ रहा था तो कवि ने रणभेरी बजायी. उन्होंने सदियों से मौन रहकर सब सहने और याचना करने के आदी, वीतराग संन्यासी बनकर जड़ता की नींद में सोये भारतवासियों को जगाने का प्रयास किया. जय के विश्वास के साथ वे उद्‌बोधन करते हैं.

"तुम्हें जगाने को मैं अपनी
छोड़ अमर छवि आया
अग्नि-किरीट पहन सुमनों की
नगरी से रवि आया
यौवन का संदेश लिये
सुन्दरता का कवि आया
उद्धत शिखरों पर ज्यों नभ से
टूट प्रबल पवि आया
जनता के जीवन में आया
मैं मधु-स्वप्न-विलासी
सिसक रही सुकुमार कल्पना
वह चरणों की दासी
तुम्हें पुकार रहा हिमगिरि से मैं जय का विश्वासी
जागो हे युग-युग से सोये, खोये भारतवासी"
(ग्रं. ३, पृ. ८६)

कवि की वाणी जनता की वाणी बन जाती है. नये युग के आगमन का संदेश देते हुए कवि सुखद भविष्य का आश्वासन देते हैं.

"झुकता लो आकाश तुम्हारे पदचिह्नों से नपने
आज नहीं दूँगा मैं तुमको रोने और कलपने"
(ग्रं. ३, पृ. ८७)

कवि अपने मानस-पटल पर उभरे वीरत्व के प्रतीकों को दिखाते हुए प्राचीन काल से आधुनिक काल तक के भारतीय वीरों की याद दिलाते हैं.

"यह परिवेश समुद्रगुप्त का,
यह शकारि का शाका है
राणा का चित्तौड़ लड़ाका,
गढ़ यह वीर शिवा का है
गुरु गोविन्द सिंह का प्यारा,
यह रण-मंदिर बाँका है
यह सुभाष की स्वर्ण-कीर्ति,
गाँधी की विजय-पताका है"
(ग्रं. ३, पृ. ७२)

विश्व को अहिंसा का संदेश देनेवाले भारत ने अपनी स्वतन्त्रता भी अहिंसक आन्दोलन के बल पर ही पायी थी. १९६२ में देश पर हुए अचानक आक्रमण से देश चौंक उठा. ऐसी स्थिति में अहिंसा किस प्रकार कारगर हो सकती है, वह सोच में पड़ गया.

"ख्याति अहिंसा की उधर, इधर जाति की लाज
भूखों मरे, न तृण चरे, वनवासी वनराज"
(ग्रं. ३, पृ. ८२)

महाभारत के संग्राम के समय कुछ ऐसी ही स्थिति अर्जुन की हुई थी. उस समय उसे किंकर्तव्यविमूढावस्था से

कृष्ण ने उबारा था. इस विषय में कवि का दृष्टिकोण स्पष्ट हैं.

"रण–हिंसा हिंसा नहीं, वीर अहिंसा–धाम
गीता देकर कृष्ण ज्यों, सीता लेकर राम"
(ग्रं. ३, पृ. ७९)

भारत एक शान्तिप्रिय देश है किन्तु इसका अर्थ युद्ध और वीरता में पीछे रहना नहीं. वह तो परशुराम की इस उक्ति को चतितार्थ करता है.

"अग्रतः षट्शास्त्राणि पृष्ठतः सशरं धनुः"

भारत में वीरता की परंपरा रही है. वीरता यहाँ त्याग है, तपस्या है, परदुःखकातरता है, शरणागतवत्सलता है. वीर सत्य और न्याय की स्थापना के लिए तलवार उठाता है.

"अत्याचारी से दुर्बल को,
शरणागत को ओट दी
साक्षी है इतिहास, न हमने,
कभी किसी पर चोट की"
(ग्रं. ३, पृ. ६९)

"वे दिन गये कि सत्य की, स्वयं मची जयकार
आज न्याय के हाथ में, देनी है तलवार"
(ग्रं. ३, पृ. ८१)

कवि वीरता के उच्च आदर्श की स्थापना करते हैं. वीर के लिए युद्ध यज्ञ–सा पवित्र होता है. वह अकारण उलझता नहीं पर आत्मसम्मान पर की गयी चोट को भी नहीं सहता. वीर–गाथा–काव्य में डिंगल के अवदान के बिना वीरत्व की कथा अधूरी रह जाएगी. राजस्थान की विशेष भौगोलिक स्थिति और वीरता के उच्च मानदंड को लक्ष्य करके कवि कहते हैं,

"मेघ न सरित न सर यहाँ, उड़ती धू–धू रेत
पानी धन्य कृपाण का, सदा हरे हैं खेत"
(ग्रं. ३, पृ. ८१)

उन रणबाँकुरों को न देश भुला सकता है, न इतिहास. कवि को गर्व है अपने देश के अतीत पर, प्रेम है देश के वर्तमान से और परवाह है देश के भविष्य की. वे वीरता का अभिनंदन करते हैं.

"गंगा बड़ी न गोमती, सरयू के भू–भाग
जहाँ गिरा सिर वीर का, तीरथ वही प्रयाग"
(ग्रं. ३, पृ. ८३)

समर–मरण, फिर देश हित, बोला वीर न सोच
एक बार ही दे सका प्राण, यही संकोच"
(ग्रं. ३, पृ. ७६)

राजनीति

राष्ट्रीयता और राजनीति दो अलग-अलग धरातल की उपज हैं. राष्ट्रीयता देशप्रेम को पुष्ट करती है. देशप्रेम में त्याग और बलिदान की उच्च कोटि की भावना रहती है जबकि राजनीति में सत्ता पाने की लालसा. कवि राजनीति की व्यर्थता का अनुभव करते हैं. वे उसकी उपमा वेश्या से देते हैं जिसके नर्तन की गति अर्थ और काम से संचालित होने के कारण असंयमित है.

"वेश्या राजनीति नर्तन में
लेगी यह संयम से काम
अरे, तनिक तो जीवन की यह
अर्थ-काम की गति रुक जाय"
(ग्रं. ४, पृ. ३४३)

राजनीति व्यक्ति के अहंभाव को पुष्ट करती है. इस अहं को सत्ता से पोषण मिलता है और इसीलिए सत्ता को स्थायी रखने के उचित-अनुचित, नैतिक-अनैतिक प्रयास किये जाते हैं.

"इस सूनेपन में मैं केवल
मुझमें मेरी सता का बल
सता में शाश्वतता का छल
छल में बेसुधपन नाच रहा"
(ग्रं. ४, पृ. १७१)

राजनीति की दो प्रमुख विचारधाराओं, साम्यवाद तथा पूँजीवाद, के विषय में भी कोई बात पूर्ण रूप से सही नहीं साबित होती. 'उषा' महाकाव्य के एक सर्ग में दो पात्रों

के वार्तालाप के माध्यम से कवि ने दोनों के गुण-दोषों का विवेचन निष्पक्ष भाव से किया है. साम्यवाद का पक्ष लेते हुए नायक राजीव कहता है.

"मिल सका है यहीं जन-मन
का यथार्थ स्वरूप
अर्थ-तूली से न बनता
जहाँ रूप कुरूप
जीविका से च्युत बुभुक्षित
क्यों रहे जन एक!
याचना क्यों करे कोई
दीन घुटने टेक!
सभी अंग समाज के,
सेवा सभी का ध्येय
सुख-विकास समर्थता
सबके लिये अभिप्रेय
चाहिये जितना जिसे
उतना उसे हो प्राप्त
शक्ति भर सेवा, अधिक या
कम नहीं पर्याप्त
क्यों बने कोई किसीका
भाग ले धनवान?
सृष्टि के कल्याण से ही
व्यष्टि का कल्याण"
(ग्रं. ४, पृ. १५२)

साम्यवाद एक उत्कृष्ट कल्पना है क्योंकि वह समाज में किसीको भी असहाय और असुरक्षित नहीं रखना चाहता. पर व्यक्तिगत विकास के मार्ग को उसने अवरुद्ध किया है. दूसरे पात्र किरण ने इसके अँधेरे पक्ष की ओर

इंगित किया.

"मुक्ति की ही कामना से विश्व विकल अशान्त
बंधनों का जाल उस पर यह विकट दुर्दान्त
स्वार्थ–साधन की पिपासा सृष्टि का है मूल
मनुज से जड़ यन्त्र के–से काम लेना भूल
शक्ति की छलना, बढ़ेगा स्वार्थ का अतिचार
क्या न फिर बँध जायगा अधिनायकों का तार?"
(ग्रं. ४, पृ. १५२)

पूँजीवाद मनुष्य को ऊपर उठने, अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने की प्रेरणा देता है. वह उसे संघर्षों की ओर ढकेलकर अन्ततः उसके आत्मविकास में सहायक होता है. इससे व्यक्ति और समाज में चैतन्य बना रहता है. वस्तुतः कोई भी विधान शत–प्रतिशत सही नहीं हो सकता. अतः अन्तिम सत्य इनमें से कोई भी नहीं है. कवि राजनीति के छलभरे व्यवहार से परिचित हैं.

मृत्यु–भावना

जीवन और मृत्यु दर्पण के आर–पार खड़ी छवि और प्रतिच्छवि की तरह हैं – बिल्कुल एक दूसरे के जैसी और एक दूसरे के प्रतिलोम. इनमें से कौन–सी सत्य है, कौन–सी असत्य, कहना कठिन है. शायद अपनी–अपनी जगह पर दोनों ही सत्य हैं, दोनों ही असत्य; एक नदी के दो किनारों की तरह, एक सलिल के दो आवर्तों की तरह.

तुलसी आदि भक्त कवियों के लिए मृत्यु का कोई महत्त्व नहीं. वे जीवन के गायक हैं, बार–बार जन्म लेकर भगवान का गुणगान करना चाहते हैं. 'हनुमान–बाहुक' में बाँह की भयानक पीड़ा में भी तुलसीदास मृत्यु की चर्चा नहीं करते, केवल पीड़ा से मुक्ति चाहते हैं.

कबीर जीवन को पानी के बलबुले से अधिक महत्त्व नहीं देते.

"पानी केरा बुलबुला, अस मानुस की जात"

उनके लिए सबसे महत्त्वपूर्ण घटना मृत्यु है. जीवित भी उन्हें मृतक से दिखते हैं.

"साधो, यह मुरदन को गाँव"

कबीर का साध्य भी भक्ति ही है किन्तु उसकी ओर प्रेरित करने के लिए वे जीवन की क्षणभंगुरता और सर्वत्र मृत्यु के साम्राज्य की ओर इंगित करते हैं.

गुलाबजी के काव्य में मृत्यु पर जितना चिन्तन मिलता है उतना कबीर और रवीन्द्रनाथ के बाद शायद ही किसीने किया हो. यद्यपि उनकी मृत्यु–भावना का स्वर

समय-समय पर बदलता रहा है. कभी उसकी महत्ता का गायन हुआ है तो कभी उसका तिरस्कार किया गया है. कभी तर्क किया है, कभी विद्रोह. कहीं स्वीकार है तो कहीं भय.

कवि कभी संतों की भाषा बोलते हैं तो कभी दार्शनिकों की. कभी अवसाद और विषाद है तो कभी निर्वेद.

मृत्यु वह विषय है जो सामान्य व्यक्ति को भी दार्शनिक बना देता है, फिर कवि-हृदय की तो बात ही क्या! अपनी मृत्यु का वर्णन अन्य सामान्य विषयों की तरह करना फ़ारसी-उर्दू काव्य की सामान्य प्रवृत्ति रही है. वहाँ प्रेमी हज़ार बार मरने की सामर्थ्य रखता है और हर बार की तस्वीर बिना लाग-लपेट के प्रस्तुत कर सकता है.

"चन्द तस्वीरे बुताँ चन्द हसीनों के ख़तूत
बाद मरने के मेरे घर से ये सामाँ निकला"

ग़ालिब

"जला है जिस्म जहाँ दिल भी जल गया होगा
कुरेदते हो जो अब राख जुस्तज़ू क्या है"

ग़ालिब

अपनी प्रारंभिक कविताओं में कवि मृत्यु का नकारात्मक नहीं बाल्कि सकारात्मक रूप देखते हैं. यहाँ मृत्यु तोड़ती, बिखेरती नहीं है. जीवन के अन्य सत्य की तरह वह भी एक विशिष्ट सत्य है. यहाँ निराशा और अवसाद नहीं, बस एक रहस्य का आवरण है. इस समय का कवि का दृष्टिकोण छायावादी चिन्तन के अधिक निकट है. वह यथार्थ के धरातल से काफ़ी ऊपर तथा वायवीय है. जैसे फूल खिलने की प्रक्रिया में खिलते-खिलते अंत में झड़ जाता है उसी प्रकार मनुष्य भी विकास के विभिन्न

सोपान पार करता हुआ मरण तक पहुँचता है.

"मरण मेरे सर्वोच्च विकास
तुझको पाकर पूर्ण हो गया जीवन का इतिहास"
(ग्रं. १, भाग १, पृ. ५६)

मृत्यु का पूरी सृष्टि पर राज्य है. धरती ही नहीं, आकाश के ग्रह–नक्षत्र–तारागण, सर्वत्र इसकी पहुँच है. इससे कोई बच नहीं सकता.

"सत् का अविगत रूप,
चेतना का अंधकूप
अणु–अणु में घर इसका
राज्य सृष्टि पर इसका
अंदर–बाहर इसका है अमिट प्रसार
अंधकार, अंधकार, अंधकार"
(ग्रं.१, भाग २, पृ. १०१)

"सुखद स्वर्ग की परिभाषा थी
जहाँ अमरता की आशा थी
आज समझ पाया नश्वर है,
हाय, वहाँ भी जीवन–धारा
दूर गगन में टूटा तारा"
(ग्रं. १, भाग १, पृ. ५१)

जीवन और मृत्यु तराजू के दो पलड़ों की तरह बारी–बारी से भारी पड़ते रहते हैं. वे जुड़वाँ भाइयों की तरह एक साथ रहते हैं.

"जीवन और मरण
गले मिल रहे हैं,
कुछ फूल कुम्हला रहे हैं,
कुछ फूल खिल रहे हैं"
(ग्रं. २, प्रथम संस्करण, पृ. २१४)

जैसे जीवन पर मृत्यु ने दाँत गड़ा रखे हैं उसी प्रकार मरण की धरती में भी जीवन के फूल खिलते हैं. यह कहना कठिन है कि जीवन और मृत्यु में से कौन अधिक शक्तिशाली है.

"ज्योति का बीज अँधेरा न निगल पाएगा
सूर्य डूबा कि नखत लाख खिलखिलायेंगे"
(ग्रं. १, भाग १, पृ. ३६४)

आत्मा की अमरता के सम्मुख मृत्यु अत्यन्त तुच्छ तथा नगण्य लगती है. सीमित अर्थ में यद्यपि मृत्यु जीवन पर हावी है किन्तु विस्तृत अर्थ में जीवन मृत्यु से बाजी मार ले जाता है. मृत्यु यदि आहत नाद है तो जीवन अनहद नाद की तरह सर्वत्र व्याप्त है.

"चाहे ठाठ बिखर भी जाये
राग कभी मिटता न मिटाये
फिर-फिर नव तुंबी ले आये
हे वादक! बलिहारी"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. ९९)

जीवन और मरण की विभाजन रेखा अत्यन्त क्षीण है. यहाँ रूप-अरूप, अस्तित्व-अनस्तित्व का भेद समाप्त हो जाता है.

जीवन में सँजोये हुए अरमान, बटोरा हुआ ज्ञान - सब क्या मृत्यु के बाद समाप्त हो जाता है? मनुष्य की आशाएँ, प्रतीक्षाएँ, स्मृतियाँ और सपने जो जीवन को थिरकन देते हैं, मृत्यु की शान्ति को बने रहने दे सकते हैं? इतना सब क्या मृत्युरूपी शून्य में समा सकता है?

"यह तो कहो, मरने के बाद कहाँ जाएँ!
इतना कुछ लेकर क्या शून्य में समाएँ!
सोयें क़यामत तक, उठकर भाग आयें!

कोई ख़बर मिलती ही नहीं उस पार की"

(ग्रं. १, भाग १, पृ. ३१५)

मृत्यु जीवन के सारे बंधनों से छुटकारा दिलाती है किन्तु जब यह अचानक ही जीवन को तोड़ देती है तो व्यक्ति सोचने को विवश हो जाता है. इसका तर्कशून्य प्रहार न पंडित का सम्मान करता है न मूर्ख पर दया, न अभिमानी से रुष्ट होता है न विनम्र से प्रसन्न. आँखें बंद करके किये गये इसके प्रहार की चपेट में कब, कौन आ जाएगा, कहना कठिन है.

"पर विनम्र हो या अभिमानी,
मूर्ख हो कि पंडित हो ज्ञानी
मृत्यु सभी पर अन्धे की
लाठी, न कभी जो खाली जानी"

(ग्रं. १, भाग १, पृ. ३५९)

मृत्यु जीवन के समस्त कर्मों का क्रूर अंत है. इसकी प्रभुता और क्रूरता के प्रति कवि की चेतना विद्रोह कर उठती है.

"कर उठती विद्रोह चेतना,
मरें अन्य मानव जी–जीकर
मैं अपने ऊपर इतना
अधिकार किसीका सह न सकूँगा"

(ग्रं. १, भाग १, पृ. ३५९)

पर हम कैसा भी तर्क, कितना भी विद्रोह क्यों न करें, इससे बच नहीं सकते. जीवन के रंगमंच पर अन्तिम जीत इस खलनायक की ही होती है.

"कोई कितनी भी आड़ क्यों न लगाये
जन्म लेनेवाले की मृत्यु निश्चय होती है
इस नाटक के अन्त में

सदा खलनायक की ही विजय होती है"
(ग्रं. २, पृ. २४४)

गीता में कहा गया है,

"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च"
(श्रीमद्भगवद्गीता, २/२७)

मृत्यु जीवन का परम सत्य है. लाख तर्क से भी उसे टाल नहीं सकते. व्यक्ति का जीवन उस नाव–सा है जिसमें छेद से पानी भरता जा रहा है और जिसका डूबना निश्चित है. तो क्या व्यक्ति हताश हो कर बैठ जाए? ऐसे में एकमात्र उपाय बचता है, स्थिति से समझौते का, स्वीकार का और जीवन को संपूर्णता से जीने का.

"नाव अब बच न सकेगी प्रयत्न निष्फल है
'मृत्यु अनिवार्य, मरो' कौन वहाँ कहता है!
मृत्यु के पूर्व मरण वीर नहीं सहता है
झूमते, डाँड़ चलाते, समोद गाते ही
मृत्यु की गोद भरे हाथ चले जायेंगे"
(ग्रं. १, भाग १, पृ. ३६४)

मृत्यु की परिभाषा उतनी ही जटिल है जितनी जीवन की. इसकी व्याख्या का प्रयास 'यम–नचिकेता–संवाद' में किया गया. पर मृत्यु को समझना इतना आसान नहीं. मृत्यु को समझने केलिए जीवन को समझना आवश्यक है.

"शास्त्रों की वाणी रहस्य यह
तनिक नहीं सुलझा पायेगी
जिस दिन समझूँगा जीवन को,
मृत्यु समझ में आ जायेगी"
(ग्रं. १, भाग १, पृ. ३६०)

मृत्युरूपी देवता की भेंट सभी को चढ़ना है. इसकी वीरान बस्ती में भेंट चढ़े लोगों के अरमानों का ढेर लगा रहता है. मृत्यु सपनों को तोड़ती है, अपनों को तोड़ती है. हम आत्मा की अमरता की बात तो करते हैं पर एक बार जो आँख से ओझल हुआ वह क्या फिर कभी दिखायी देता है? उससे क्या पूर्ववत् स्नेह-संबंध रह पाते हैं?

"नभ का जो दीपक बुझ जाता
अगली साँझ पुनः उग आता
पर भू पर फिर दीख न पाता
होता जो दृग से ओझल है"
(ग्रं. १, भाग १, पृ. ३४२)

"वे कहाँ गये जो इन भवनों में रहते थे
अब भी जिनके पदचाप सुनायी पड़ते हैं
हो चुका सभा का अंत, गये गानेवाले
फिर भी मुझको आलाप सुनायी पड़ते हैं"
(ग्रं. १, भाग १, पृ. ३४३)

जो आज है वह कल नहीं रहेगा, सोच कर मन अवसाद से भर जाता है.

"कल हों कहाँ हम किसको पता
डाल में फिर से जुड़ न सकेंगे,
टूटे हुए पीपल के पात"
(ग्रं. ३, पृ. ३३७)

"बाग़ के सभी फूल एक-एक कर चले गये
कुछ तो माला में गुँथे-गुँथे ही कुम्हला गये
कुछ धरती पर गिरकर
काल के चरणों से कुचले गये"
(ग्रं. २, प्रथम संस्करण, पृ. २१४)

'युधिष्ठिर-यक्ष-संवाद' में युधिष्ठिर ने संसार का

सबसे बड़ा आश्चर्य यह बताया था कि प्रतिदिन लाखों-करोड़ों प्राणियों को मरते देखकर भी मनुष्य स्वयं को मरणशील नहीं मानता. अपने अमरत्व का विश्वास व्यक्तिमात्र के मन के कोने में बैठा रहता है. मृत्यु से सामना होने पर उसका हृदय विषादग्रस्त हो जाता है.

"सब कुछ वैसा ही होगा जैसा प्रतिवर्ष होता है
केवल मैं नहीं रहूँगा"
(ग्रं. २, पृ. १७५)

मृत्यु चाहे जीवन का अन्त नहीं कर पाती हो पर उसका रूप अवश्य बदल देती है.

"मृत्यु, पथ अन्त नहीं सीमा है
राग अवरुद्ध नहीं धीमा है
चेतना के प्रगल्भ शिशुओं की
यह समझ लो कि दूसरी माँ है"
(ग्रं. ३, पृ. ११९)

"एक बार इस मृण्मय घर से कढ़कर
रूप कहाँ से फिर पहला पाऊँगा!
संध्या की पीली किरणों पर चढ़कर
जब मैं घाटी पार चला जाऊँगा"
(ग्रं. १, भाग १, पृ. १९९)

मृत्यु जीवन का अन्त नहीं, एक मोड़ है. यहाँ से जीवन एक दूसरे रूप में चलता है. यह दूसरा देश और दूसरा रूप अपने अपरिचय के कारण भय के भाव जगाता है. जीवन की चहल-पहल में भी वीरानापन दिखायी देता है.

"जाने कैसा वीरान है यह डेरा!
साँय-साँय करती हवायें, और
मुँह फाड़े अजगर-सा अँधेरा!

लुप्त हुआ चाहती है मेरी अस्मिता"

(ग्रं. २, पृ. ६४)

जीवन के साथ मृत्यु परछाँईं की तरह लगी रहती है. प्रायः इसकी निकटता का अनुभव भी होता है, आहट भी सुनायी देती है.

"यह कैसी भयावनी छाया
मेरे सिर पर मँडरा रही है
क्या तुझे नींद आ रही है
ओ पिता!"

(ग्रं. २, पृ. ६५)

"दरवाजे पर यह खटखट कैसी है
दबे-दबे पाँवों की आहट कैसी है
लगता है
मेरे लिये कोई आवश्यक सन्देश लाया है
मुझे शय्या से उठाकर
ले जाने के लिए आया है."

(ग्रं. २, पृ. २०८)

भय एक आदिम भावना है. ज्ञान का प्रकाश ही भय के अन्धकार को दूर कर सकता है. यह भी तो समझ में नहीं आता कि सम्मुख खड़ी यह मृत्यु शत्रु है या मित्र.

"हो सकता है किसी चिरपरिचित बन्धु-सा
वह बढ़कर मुझे गले से लगा ले
हो सकता है भूखे बाघ-सा झपटकर
मुझे अपने जबड़ों में दबा ले"

(ग्रं. २, पृ. २१६)

कवि प्रभु की शरण लेते हैं और भय से मुक्त करने की प्रार्थना करते हैं.

"भय से दो त्राण
भीरुता, विकलता से मुक्त करो प्राण"
(ग्रं. २, पृ. ४३)

कवि को आत्मा की अमरता का विश्वास है. उन्हें एकमात्र अन्तिम सहारा है तो प्रभु का.

"तू है तो भय क्या!
जीवन–समर में मिली जय क्या, पराजय क्या!
क्षुब्ध, चिर–अशान्त, चिर–निरवधि
कितना भी उमड़े यह महोदधि
सलिल का होगा कभी क्षय क्या!"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. ३४)

इस प्रकार कवि का मृत्यु–विषयक चिन्तन तर्क–वितर्क, विद्रोह–स्वीकार, अवसाद–विषाद आदि से होता हुआ निर्वेद पर आकर स्थित हो जाता है.

"डूबने ही जब चला
तब डाँड़ क्या, पतवार क्या
सिन्धु का तूफान देखूँ
या उमड़ते प्राण देखूँ
जब अँधेरा ही रहा,
इस पार क्या, उस पार क्या"
(ग्रं. १, भाग १, पृ. ४९)

"कितने तेरे आगे थे, कितने पीछे आएंगे
दो दिन दुनिया में अपना डंका बजवा जाएंगे
सबको रो–गाकर आखिर धरती में ही सोना है
जो मिल न सका जीवन में
क्यों फिर उसका रोना है!"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. ९०)

इस प्रकार गुलाबजी का मृत्यु–संबन्धी चिन्तन

तुलसी, कबीर आदि से तो भिन्न है ही, छायावादी कवियों से भी भिन्न है. एक सामान्य मनुष्य की तरह वे मृत्यु की विभीषिका का अनुभव करते हैं और यही चाहते हैं कि वह उन्हें व्याकुल या विचलित न करे. इस दृष्टि से वे रवीन्द्रनाथ तथा शेक्सपियर के अधिक निकट ठहरते हैं .

गुलाबजी के मृत्यु-संबन्धी विचार काल-भेद से परिवर्तित होते गये. इनका समाहार 'भक्ति-गंगा' में होता है जहाँ कवि पूर्णतः भक्ति के रंग में रँग गये हैं. उनकी मृत्यु-संबन्धी भावनाएँ, जो पहले त्रासद रूप में आती थीं, 'तिलक करें रघुबीर' तक आते-आते अंत में गीता के आदर्शों तथा भक्ति के आवेश से मंडित होकर भय तथा आतंक से अंशतः मुक्त हो गयी दिखायी देती हैं.

भक्ति–भावना

भक्ति शब्द का अर्थ कोशों के अनुसार 'विभाजन', 'अनुराग', 'पूजा', 'उपासना' आदि है. हमारे विभिन्न आचार्यों ने भक्ति की परिभाषा इस प्रकार दी है.

"मय्यर्पित मनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः"

(श्रीमद्भगवद्गीता, १२/१४)

अर्थात् जिसने अपना मन और बुद्धि मुझे अर्पित कर दी है, वह भक्त मुझे प्रिय है.

पराशर–"पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः"–

(नारद भक्ति सूत्र, १६)

अर्थात् पूजादि में अनुराग होना भक्ति है.

शांडिल्य–"सा परानुरक्तिरीश्वरे" –

(शांडिल्य भक्ति सूत्र, २)

अर्थात् वह ईश्वर के प्रति परम अनुराग–रूपा है.

नारद– "सा तस्मिन् परमप्रेमस्वरूपा" (ना. भ. सू., २)

"अमृतस्वरूपा च"(ना. भ. सू., ३)

"तत्रापि महात्म्यज्ञान–विस्मृत्यपवादः"

(ना. भ. सू., २२)

"तद्विहीनं जाराणामिव"(ना. भ. सू., २३)

अर्थात् वह (भक्ति) ईश्वर के प्रति परम प्रेम–रूपा और अमृतस्वरूपा है. फिर भी माहात्म्य–ज्ञान का विस्मरण नहीं होना चाहिए, अन्यथा यह (कोरा प्रेम) व्यभिचारियों के प्रेम के तुल्य हो जाएगा.

वल्लभाचार्य–"महात्म्यज्ञान पूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः.
स्नेही भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा" –
(तत्त्वदीप निबन्धः, श्लोक–४६)

अर्थात् भगवान में माहात्म्यपूर्वक सुदृढ और सतत स्नेह ही भक्ति है. मुक्ति का इससे सरल उपाय नहीं.
आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति की परिभाषा में इन सभी बातों का समन्वय कर दिया.

"श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है."
(निबन्धमाला, श्रद्धा–भक्ति, पृ. ५२)

वैदिक साहित्य में आर्यों की प्राचीन साधना का परिचय मिलता है किन्तु उसमें कोरी श्रद्धा या शुष्क उपासना है. भक्ति के दूसरे आवश्यक तत्त्व प्रेम का उन्मेष नहीं मिलता. वैदिक धर्म, यज्ञ एवं कर्मकाण्ड से बँधी एक उपासना पद्धति था. यही धर्म उपनिषद् में, स्थूल से सूक्ष्म में परिवर्तित हो गया. उपासना चिन्तन में तथा कर्म ज्ञान में परिणत होने लगा. इस प्रकार ऋग्वेद से उपनिषदों तक कर्म और ज्ञान का ही विकास मिलता है, भावना का उन्मेष नहीं.

भक्ति का सर्वप्रथम स्पष्ट रूप से प्रतिपादन 'महाभारत' में प्राप्त होता है. 'महाभारत' के 'शान्ति–पर्व' तथा 'भीष्म–पर्व' में 'नारायणीयोपाख्यान' के अन्तर्गत नारायण या वासुदेव की उपासना–पद्धति का निरूपण किया गया है. यही भक्ति–भावना का प्रारंभिक स्वरूप है. 'महाभारत' में भागवत धर्म के प्रवर्तक के रूप में नारायण का तथा प्रचारक के रूप में महर्षि नारद का नाम आया है. इधर छान्दोग्य उपनिषद् में देवकी–पुत्र श्रीकृष्ण को भागवत धर्म का प्रवर्तक माना गया है. (श्रीकृष्ण को भी नारायण का अवतार मानते हैं.)

'महाभारत' के भागवत-धर्म का विकास 'गीता' में मिलता है. 'गीता' में भक्ति-योग की महत्ता ज्ञान-योग और कर्म-योग के समान ही प्रतिपादित की गयी है. मुक्ति कोरे शुष्क नैतिक आचरण में नहीं वरन् भावपूर्ण उपासना तथा भक्ति में है. मोक्ष केवल वैराग्य और तपस्या से ही नहीं भक्ति से भी साध्य है.

"तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते"
(श्रीमद्भगवद्गीता, १०/१०)

'शांडिल्य भक्ति-सूत्र' और 'नारद भक्ति-सूत्र' में भक्ति को ज्ञान तथा कर्म से भी अधिक महत्ता दी गयी है.

"सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा"
(नारद भक्ति-सूत्र)

ये ग्रंथ 'गीता' के भक्ति-विवेचन को आगे बढ़ाते हैं. 'नारद भक्ति-सूत्र' का प्रतिपाद्य एकमात्र भक्ति है. इसमें पहली बार भक्ति के स्वरूप का सांगोपांग विवेचन हुआ है. नारद ने भक्ति के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए उसे ईश्वर के प्रति परम प्रेमस्वरूप और अमृतस्वरूप घोषित किया है. उसे पाकर मनुष्य सिद्ध, अमर और तृप्त हो जाता है. उसे पाकर मनुष्य उन्मत्त हो जाता है, स्तब्ध हो जाता है और आत्माराम बन जाता है.

"यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति"
(नारद भक्ति-सूत्र, ६)

भक्ति के लक्षण निर्धारित करते समय प्रेम और श्रद्धा दोनों को प्रमुख माना गया है. श्रद्धा के अभाव में कोरा प्रेम व्यभिचारियों के प्रेम के तुल्य रह जाता है. नारद भक्ति-सूत्र में प्रेमासक्ति के आधार पर ११ तरह के भक्त माने गये हैं किन्तु सच पूछा जाय तो जितने भक्त होते हैं

उतनी ही प्रकार की उनकी भक्ति होती है. दूसरे भक्तों के मार्ग का यान्त्रिक अनुकरण करने वाला भक्त बिरला ही मिलता है.

'श्रीमद्भगवद्गीता' में प्रेरक तत्त्वों के आधार पर भक्तों के ४ भेद माने गये हैं – आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी. इनमें से ज्ञानी प्रथम कोटि में आते हैं तथा अवर्ण्य हैं. द्वितीय कोटि की भक्ति गुणों पर आधृत होने से गौणी भक्ति कहलाती है.

सत्त्वगुणप्रधान आर्त्त भक्त भौतिक और बौद्धिक संसार से ऊपर उठ चुका होता है. उसे संसार से असंतोष तथा वैराग्य हो चुका होता है और उसका एकमात्र ध्येय ब्रह्म का साक्षात्कार होता है.

रजोगुण पर आधृत जिज्ञासु बौद्धिक रूप से सतर्क तथा सजग रहता है. वह साहसी तथा उत्साही होता है. परमात्मा के विषय में शास्त्रों में उपलब्ध ज्ञान से उसे संतोष नहीं होता. वह तर्क–वितर्क करता है तथा स्वयं अन्वेषण करना चाहता है. गर्ग की परिभाषा, "कथादिष्वनुराग इति गर्ग" ऐसे भक्तों पर चरितार्थ होती है. कथाओं को सुनकर ये बुद्धिजीवी उसके माहात्म्य तथा प्रकृति को समझने का प्रयास करते हैं.

तामसिक गुणों पर आधृत अर्थार्थी कोटि में भक्त भगवान के अनुग्रह तथा संसारिक उपलब्धियों की कामना करता है. महर्षि पराशर की भक्ति की परिभाषा "पूजादिष्वनुराग" इसी को वर्णित करती है. पूजादिकों में अनुराग द्वारा की गयी भक्ति भगवान को भक्त पर अनुग्रह करने में प्रेरक होती है तथा उसे वांछित उपलब्धियाँ प्राप्त कराने में सहायक होती हैं.

नारद के अनुसार ये भक्ति के सोपानों की तरह हैं.

उत्तरोत्तर उच्चतर सोपान पर चढ़कर ही भक्त ज्ञानी की चरम अवस्था तक पहुँच सकता है.

हमारे मध्यकालीन विद्वानों और आचार्यों ने भक्ति के मुख्यतः दो भेद किये हैं–रागानुगा और वैधी.

वैधी में कर्मकाण्ड की प्रधानता है किन्तु रागानुगा में प्रेमभाव प्रधान है. रागानुगा भक्ति भी पाँच प्रकार की मानी गयी है–शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य.

भक्ति–भाव की व्यंजना मुख्यतः दो रूपों में होती है – प्रत्यक्षतः आत्मनिवेदन के रूप में और आराध्य के गुणगान के रूप में.

गुलाबजी भक्ति–साधना–पथ के पथिक हैं. उन्होंने मुख्यतः आत्मनिवेदन का सहारा लिया है. उनकी भक्ति–भावना आस्तिकता के संस्कारों की उपज है. किसी पंथ, संप्रदाय–विशेष का उन्होंने आश्रय ग्रहण नहीं किया है. भौतिक उन्नति के इस युग में साधक से भक्त बनने की प्रक्रिया में कवि के अपने विचार, तर्क, कल्पना आदि सहायक हुए हैं.

भक्तों की तीन कोटियों में सर्वप्रथम कवि अर्थार्थी रूप में प्रभु से वाणी का वर माँगते हैं. उनका अहंभाव पूर्णतया विगलित नहीं हुआ है. वाणी का वर पाकर बहुत कुछ करने का उत्साह और साहस उनमें बना हुआ है.

जिज्ञासु भक्त के रूप में कवि की जिज्ञासा कई प्रकार से प्रकट होती है. उन्होंने शास्त्रों का अध्ययन किया है. अतः वे तर्क–वितर्क भी करते हैं. कभी भगवान के कृपालु, अंतर्यामी, शरणागतवत्सल आदि रूप का अनुभव करते हैं तो कभी संशय– विश्वास, भय, जिज्ञासा आदि में झूलते हैं. इस जिज्ञासा से रहस्यभावना की सृष्टि होती है. कभी वे 'कौन' के रूप में प्रश्न करते हैं, कभी उसके

संकेत पाकर चमत्कृत होते हैं. कभी आकर्षित होकर प्रेमविह्वल और कभी घोर विरह का अनुभव करके व्याकुल होते हैं.

कवि को जिज्ञासा है कि जैसे उनका हृदय उस परम सत्ता के लिए विह्वल होता है, क्या वह भी उनके प्रति उसी विह्वलता का अनुभव करता है? क्या परमात्मा भी प्रेम के आकर्षण का अनुभव करते हैं या यह प्रेम एकतरफ़ा है?

यदि आकर्षण होता भी है तो क्या परमात्मा भक्त के लिए कुछ विशेष अनुग्रह कर सकते हैं या कार्य–कारण–श्रृंखला में बँधे होने के कारण लाचार हैं. वे यह जानने को उत्सुक हैं कि क्या सचमुच भगवान भक्तों की पुकार पर दौड़े चले आते हैं और असीम, निराकार से ससीम, साकार हो जाते हैं.

कभी–कभी अपनी ओर दृष्टि डालने पर उन्हें आत्मग्लानि भी होती है. वे अपने पापों का स्मरण करके लज्जित होते हैं, प्रायश्चित करना चाहते हैं और क्षमा माँगते हैं.

धीरे–धीरे कवि के आस्तिक संस्कार भक्ति–भावना में परिवर्तित हो जाते हैं. जो पहले वाणी का वर माँगते थे, अब अनुभव करते हैं कि भाषा, भाव, विचार, कर्तृत्वशक्ति, यश – सब कुछ परमात्मा का ही दिया हुआ है. शनैः–शनैः कवि का अहं पूर्ण रूप से विगलित हो जाता है.

इन वर्णित भक्ति के सोपानों पर क्रमशः ही चढ़ा जा सकता है. यह चढ़ाव कवि के साहित्य में भी दृष्टिगोचर होता है. भक्ति की तीसरी कोटि, आर्त्त भक्त के रूप में, उन्हें केवल प्रभु की निकटता और साक्षात्कार चाहिए.

विश्वास

एक भक्त के रूप में उनका सबसे बड़ा सम्बल भगवान पर विश्वास है. विश्वास में बहुत शक्ति होती है. विश्वास ही पत्थर को भगवान बना देता है, अनहोनी को होनी में बदल देता है. भक्ति के लिये विश्वास का बहुत महत्त्व है. भगवान पर विश्वास, उनके दयालु, अन्तर्यामी, क्षमानिधि आदि रूपों पर विश्वास स्वयम् व्यक्ति के आत्मविश्वास को परिपुष्ट करता है. प्रभु के माहात्म्य का स्मरण इस विश्वास को स्थिर रखता है. शायद इसीलिए भक्ति के सभी विभागों में 'गुण-माहात्म्य-विभाग' को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है.

भक्त भले ही भगवान को न देख पाए पर भगवान सदा उस पर कृपादृष्टि बनाए हुये हैं, इस विश्वास का बहुत सहारा होता है. कवि को भी इसका विश्वास है कि प्रभु ने कभी उसे नज़रों से ओट नहीं किया है.

"मेरे सिर पर तना हुआ है
स्नेह-वितान किसीका
तिल भर ओट न होने देता
मुझको ध्यान किसीका
उसकी कृपा-किरण से मेरा, शून्य दिगन्त न होगा
मेरा अन्त न होगा"
(ग्रं. १, भाग १, पृ. २४१)

"जिसकी ज्योति-किरण तू अक्षय
खड़ा पीठ पर वह करुणामय
तुझे खींच ही लेगा निश्चय
लहरों के अन्दर से
मन रे! डाँड़ न छूटे कर से"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. २२६)

ईश्वर पर कवि के विश्वास को किसी पंथ या संप्रदाय की दीक्षा का सहारा नहीं मिला. उन्हें वह आधार न मिल पाया जो एक गुरु देता है. अतएव कवि की भक्ति–भावना भी आस्था–अनास्था के बीच झकोरे खाती है. सूर, तुलसी, कबीर, मीरा आदि के पास जिस दृढ़ विश्वास का आधार था, वह कवि को उपलब्ध नहीं. उनकी भक्ति–भावना के बीच में शंका, दुविधा भी अपना फण उठाती रहती हैं.

"पर उनमें था श्रद्धा का बल
लक्ष्य नहीं होता था ओझल
तू शंका, दुविधा में प्रतिपल
कैसे पाए तीर!"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. २१५)

अनाथवत्

पूर्ण विश्वास के अभाव के कारण ही कभी तो कवि को अपने ऊपर प्रभु की छत्रछाया का अनुभव होता है, कभी वे स्वयं को अनाथ की तरह महसूस करते हैं.

"अपने लिये साधना सारी
आप देवता, आप पुजारी
सिर पर हाथ नाथ का भारी
फिर भी फिरे अनाथ
यह मन बड़ा हठी है नाथ"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. २४०)

कवि के मन का यह हठीलापन केवल नकारात्मक उपलब्धियाँ ही नहीं कराता. इसी हठ के कारण उनकी भगवान से ठनी हुई है. अपने भक्ति–भाव की लघुता के बावज़ूद उन्हें प्रभु–दर्शन की हठ है, हार न मानने की हठ है, बाजी जीतने की हठ है.

"रहते हैं भ्रम, संशय घेरे
तप, संयम से हूँ मुँह फेरे
फिर भी बैठा हूँ मैं, तेरे
दर्शन का हठ ठाने
कौन इस पीड़ा को पहिचाने!"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. २७६)

"तुझको पहिचानूँगा
बाजी एक हार भी जाऊँ, और नयी ठानूँगा"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. ११४)

मोहग्रस्तता

संसार में रहकर इसके माया–मोह से कौन भ्रमित नहीं हुआ! कवि अपनी मोहग्रस्तता से अवगत होते हुए भी भक्ति की कामना करते हैं

"यद्यपि मन तिरने का लोभी
पर न छोड़ पाता तट को भी
मिलने को व्याकुल हूँ तो भी
कहता है – 'मत जाओ'"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. १२८)

पर संसार में रहते हुए मोह से मुक्त होना अत्यन्त कठिन है. स्वयं भगवान भी धरती पर आकर इससे मुक्त नहीं रह पाए थे.

"करूँ क्या, यदि मन हो न विरागी!
तुमसे भी तो, प्रभु! जग में यह माया गयी न त्यागी
चिर–असंग भी व्याकुल क्षण–क्षण
फिरे न जनक–सुता हित वन–वन!

क्या न द्वारिका में तड़पा मन
जब राधा–स्मृति जागी!"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. २५०–२५१)

कवि वस्तुतः भक्त और कवि दोनों बने रहना चाहते हैं. वे संपूर्ण वैराग्य नहीं चाहते. राग की अवस्थिति से भावनाओं की उथल–पुथल होती है जो काव्य–सृजन में सहायक बनती हैं. कवि स्वीकार करते हैं–

"हमारे कहने पर मत जाएँ
कब हमने मन से चाहा है, शरण आपकी आएँ!
आप शरण में यदि ले लेंगे
इसके सारे राग मिटेंगे
कैसे नित–नव रास रचेंगे,
होंगी ये रचनायें!"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. २४०)

भक्त कवि संसार को तुच्छ दृष्टि से देखते है. किन्तु गुलाबजी को संसार से लगाव है. संसार का महत्त्व अपने स्थान पर है, भगवान का अपने स्थान पर. वे भगवान के लिए संसार से मुँह मोड़ने के पक्ष में नहीं. एक का त्याग करके दूसरे की प्राप्ति तो अधूरी ही प्राप्ति हुई. वे चाहते हैं कि –

"फिर भी जिद, नभ तक यश छाये
कुछ न अलभ्य मुझे रह पाये
जग का तो सब सुख मिल जाए
तू भी सेवक माने"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. २७७)

आत्मविश्वास के जोश में व्यक्ति जटायु की तरह सूरज को छूने के दुस्साहस में उड़ान भरता है पर समय

के थपेड़े तन को ही नहीं मन को भी दुर्बल बना देते हैं. इनसे थककर ही सूरदास ने कहा था,

"अब मैं नाच्यो बहुत गुपाल"

अपने चतुर्दिक अन्य किसी त्राता को न पाकर कवि भी अनन्य भाव से प्रभु की शरण लेते हैं.

"आया चरण–शरण में बेसुध
थक कर चारों ओर से
दिन–दिन दुर्बल मन यह बाँधो,
प्रभु! करुणा की डोर से"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. ३१)

प्रभु की करुणा, कृपा, प्रेम, सहारे के लिए कवि आपादमस्तक आभारी हैं. वे स्वयं को प्रभु के सुरक्षा–कवच से आवेष्ठित पाते हैं. वे समझ नहीं पाते कि प्रभु के किन उपकारों का आभार कैसे व्यक्त करें क्योंकि सब कुछ तो उन्हींका दिया हुआ है. अतः "त्वदीयं वस्तु गोविन्दं, तुभ्यमेव समर्पयेत्" की तरह कवि अपना तन–मन, अपना अहं तक प्रभु को अर्पित कर देते हैं.

"बाती, स्नेह, प्रदीप तुम्हीं हो,
जलते और जलाते हो तुम
उजियाले का श्रेय दिलाकर,
मेरा मान बढ़ाते हो तुम
. . .
लो मेरा 'मैं' भी यह ले लो
जिससे यों भरमाते हो तुम
अब किसको देना! क्या लेना!
तुम देते हो, पाते हो तुम"
(ग्रं. १, भाग १, पृ. ३५०)

आत्मसमर्पण

नारदजी कहते हैं कि भक्ति की साधना की प्रतीक्षा में एक क्षण भी नष्ट नहीं करना चाहिए. यदि व्यक्ति यह सोचे कि एक समय ऐसा आएगा जब सुख-दुःख, इच्छा-कष्ट से छुटकारा मिल जाएगा तो यह केवल कल्पना ही है क्योंकि ऐसा आदर्श समय कभी नहीं आता और यदि आता भी है तो भक्ति-लाभ के पश्चात ही. अतः जिस हाल में हैं उसीमें भक्ति की ओर अग्रसर हो जाना चाहिए.

"सुखदुःखलाभादित्यत्के काले
प्रतीक्ष्यमाणे क्षणार्धमपि व्यर्थं न नेयं"
(नारद भक्तिसूत्र, ७७)

ऐसा ही सोच कर कवि भी अपने टूटे तँबूरे और अधूरे साज-सामान के साथ भक्ति की राह में निकल पड़े. वास्तविक पूर्णता तो भक्ति के बाद ही आती है.

था श्रृंगार भले ही आधा
कहाँ समर्पण में थी बाधा"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. ४५)

"जग ने रत्नकोष है लूटा
मिला तँबूरा मुझको टूटा
उस पर ही जब भी स्वर फूटा मैंने कुछ गा लिया
जीवन तुझे समर्पित किया"
(ग्रं. १, भाग २, पृ १३७)

कवि अपने भक्ति-भाव के अधूरेपन को जानते हैं.

"भक्ति भाव भी मुँह पर केवल
जिसमें त्याग-विराग न तपबल
बाहर से कितना भी उज्ज्वल
भीतर छल ही छल है"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. २७५)

शरणागति

गीता हमें लौकिक प्राप्य-अप्राप्य, सुख-दुःख, लाभ-हानि, मान-अपमान आदि सब कुछ कृष्ण को समर्पित करने की शिक्षा देती है. कवि के पास तो एक ही पूँजी है, रचनाओं की , एक ही कामना है, यश की. उन सबकी चिन्ता भी भगवान पर डाल कर वे निश्चिन्त हो जाते हैं.

"मन तो एक लाख चिन्ताएँ,
किस-किस का मुँह भरिए
तन की, धन की या जीवन की
चिन्ता से न उबरिए
. . .
सब चिन्ताएँ सौंप उसी को,
पल में पार उतरिए
चिन्ता किस-किस की करिए!"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. पृ. ९५)

"माना, सबने था मुँह फेर लिया
भाग्य ने सदा ही पथ रुद्ध किया
उसने तो साथ नहीं छोड़ दिया
सुधि तेरी लेता रहा क्षण-क्षण रे
चिन्ता क्या मन रे!"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. पृ. ४७)

कवि ने अपना सब कुछ कृष्णार्पणम् कर दिया. कर्तृत्व का मोह त्याग देने के कारण वे किसी वर्त्तमान कर्म में नहीं बँध सकते. आगे आनेवाले कर्मों के कर्त्तृत्व से भी वे मुक्त हैं.

"पाँव क्यों न जायँ थम
मार्ग चल रहा स्वयं

मुक्त, आज मुक्त हम
सब कुछ कृष्णार्पणं
सब कुछ कृष्णार्पणं"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. ३०)

भगवान

गुलाबजी की भगवान-विषयक उद्‌भावना मौलिक है यद्यपि भक्तों और साधारण मनुष्यों की भगवान की जैसी धारणा है, ऊपरी दृष्टि से वह वैसी ही दिखायी देती है. उनका आराध्य एक विशिष्ट सत्ता है. वह राम, कृष्ण या निर्गुण ब्रह्म के लोकश्रुत ढाँचों में बद्ध नहीं होता. उससे कवि का परिचय अनादि काल से है.

"दुनिया मेरी है या तेरी
. . .
त्रेता में था मैं कपिगण में
द्वापर में था वृन्दावन में
मैं तो तेरे साथ भुवन में
देता हूँ बस फेरी"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. २५८)

कवि का सत्य दार्शनिक के सत्य से भिन्न होता है. दार्शनिक परम्परागत ज्ञान की बात कहता है जिसमें कुछ प्रतिशत उसका अपना भी चिन्तन हो सकता है. कवि शत-प्रतिशत वही कहता है जिसका उसने अनुभव किया है. वह भगवान को करुणामय, अंतर्यामी, दयालु, प्रभु आदि विशेषणों से मंडित तभी करता है जब उसका उनके इन गुणों से साक्षात्कार अनुभूति के स्तर पर होता है. कवि पाते हैं कि भगवान प्रेमस्वरूप हैं तथा उनका हर हृदय में निवास है.

"हर हृदय में हुलास मेरा है
हर कली में विकास मेरा है
स्नेह बन सृष्टि में समाया मैं
दीप कोई प्रकाश मेरा है."
(ग्रं. ३, पृ. १०७)

कवि पर तो उनकी विशेष कृपा है. उनकी जीवन–यात्रा और काव्य–यात्रा दोनों उन्हींके संरक्षण में परिचालित है, इसकी अनुभूति उन्हें क़दम–क़दम पर हुई है. भगवान के प्रेम से आपादमस्तक सिंचित होकर कवि उनके करुणामय रूप के मधुर भार तले नतमस्तक हैं. जितनी व्यक्ति में पाने की सामर्थ्य है उससे अधिक वे देने को तत्पर हैं.

"करुणामय! तेरी करुणा का
मधुर भार झेलूँ कैसे!
चार हाथ से तू देता,
मैं दो हाथों से लूँ कैसे!"
(ग्रं. १, भाग १, पृ. ३५१)

नारदजी के अनुसार भगवान भक्ति से प्रभावित होकर शीघ्र ही व्यक्ति के अंतर में अपने सत्य–स्वरूप में प्रकट होते हैं.

"स कीर्त्यमानः शीघ्रमेवाविर्भवति
अनुभावयति च भक्तान्"
(नारद भक्तिसूत्र, ८०)

अर्थात् जब भगवान कीर्तित होते हैं तो वे शीघ्र स्वयम् को अपने भक्तों पर प्रकट कर देते हैं तथा उनको स्वयम् का यथावत् अनुभव करा देते हैं. कवि को भी भगवान की दयालुता की अनुभूति हुई है. यह दयालुता ही है जिसके कारण भगवान प्राणियों की दीन पुकार पर उसके

पिछले सारे दोषों को भुलाकर तथा सारे नियमों को ताक पर रखकर दौड़े चले आते हैं.

भगवान उदार, क्षमाशील तथा अंतर्यामी हैं. जैसे गूँगे के इशारों को उसकी माँ अच्छी तरह समझती है वैसे ही किस प्राणी के मन में क्या है, उसे केवल भगवान ही सही रूप से जान सकते हैं. संसार में कोई भी भगवान के जितना निकटस्थ नहीं है. प्राणियों के मन को दूसरा कोई भी पूर्णतया नहीं समझ सकता है.

"अपरिमित दया दयामय! तेरी
फिर भी क्यों रूठे रहने की प्रकृति बनी है मेरी!
मुझको एक फूल भी भाया
तू सारा उपवन ले आया
पतझड़ में वसन्त की माया
रचते लगी न देरी"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. १४०)

"जीवन–स्वामी!
मेरे अंतर्यामी!
बना लिया क्यों मैंने तुझको
निज रुचि का अनुगामी!
. . .
कैसे इस जड़ता को तूने इतना मान दिया है!
कहने के पहले ही मेरा आशय जान लिया है
मेरी हर बचपन की जिद पर भर दी तूने हामी"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. ४३–४४)

वे केवल अंतर्यामी ही नहीं, आत्मा के सहचर भी हैं. एक स्नेहमय छाया की तरह वे कवि को अनेक विघ्न बाधाओं से बचाते रहते हैं.

"ओ सहचर अनजाने!

मुझको तो गतिमय रखा है तेरी ही करुणा ने

. . .

जब भी दिये काल ने झटके
पाँव शून्य मरुथल में भटके
मैंने दी आवाज पलट के
और आ गया था झट से तू मुझको पार लगाने"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. ९९)

यदि कभी कष्ट मिला भी है तो वह कवि को दूसरे बड़े कष्ट से बचाने के लिए दिया गया है.

"क्यों तू उसको देख न पाया
दुःख की छाया में छिपकर जो
तुझसे मिलने आया!
जब तू सोया था बेसुध बन
तान रहा था काल-सर्प फण
तब पग में दे वृश्चिक-दंशन जिसने तुझे जगाया
बढ़ा देख जब द्वार सुनहले
अंधकूप आने से पहले,
ठोकर दे, जितनी तू सह ले जिसने तुझे बचाया"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. २१७-२१८)

वे अनाथों के नाथ हैं. पुराणों में वर्णित भगवान के चरित्र पर कभी-कभी कवि को अश्रद्धा भी होती है और वे उसे व्यक्त करने से नहीं चूकते.

"मेरा मस्तक लज्जा से झुक जाता है
जब कोई मुझसे कहता है
कि तेरा पिता
जो सात आसमानों के ऊपर रहता है
इतना छोटा कैसे हो गया था
कि अपनी सृष्टि को नापने के लिए

उसे दो पग चलना पड़ा!
एक भोले–भाले भक्त को छलना पड़ा!
बहुरुपिये की तरह रूप बदलना पड़ा!"
(ग्रं. २, पृ. ६९)

गुलाबजी की भक्ति–भावना उनके आस्तिक संस्कार से उद्‌भूत तथा आन्तरिक विश्वास से पुष्ट हुई है. इसे किसी गुरु या सम्प्रदाय का आधार न मिलने के कारण विपरीत परिस्थितियों में उनका विश्वास डगमगाने लगता है. अतः कवि सर्वप्रथम भगवान से अपने विश्वास के न डोलने, आस्था और श्रद्धा के बनी रहने की प्रार्थना करते हैं.

"यह विश्वास रहे अंतर में
'डाँड़ धरे है तू निज कर में
निश्चय लाँघूँगा सागर मैं,
लाख झकोरे खाँऊँ'
शक्ति दे, मन को सुदृढ़ बनाऊँ
कितना भी गहरा संकट हो,
तनिक नहीं घबराऊँ"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. २५८)

भगवान की कृपा अहैतुकी होती है. भक्ति–भाव से उन्हे भजनेवाले पर तो उनकी कृपा–दृष्टि अवश्य ही होगी. कवि को उनकी कृपा का अनुभव हुआ है और वे चाहते हैं कि उनपर यह कृपा सदा बनी रहे. जगत के सारे प्राप्य–अप्राप्य, समस्त वैभव इसके आगे तुच्छ हैं. भ्रम और संशय में डोलते मन को प्रभुकृपा का ही सहारा होता है क्योंकि केवल वे ही भ्रम को दूर कर सकते हैं

"मिले न चाहे मुझको मोती
पर रह–रह यह इच्छा होती
दुनिया रहे भले ही सोती

तू न करे अवहेला
निर्जन सागर–वेला"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. २५७)

"किन्तु न कृपा–वारि यदि बरसे
भ्रम से कौन छुड़ाए!"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. १९१)

कवि ने स्वयं कभी परमात्मा को नहीं भुलाया है और न यह सहन कर सकते हैं कि परमात्मा उन्हें भुला दें या उनकी उपेक्षा करें.

"मार्ग कैसा भी बीहड़ आए
'छोड़ेगा न मुझे तू' मन से यह विश्वास न जाए
. . .
ज्यों शिशु दूर कहीं भी खेले
माँ सुन रुदन गोद में ले ले
वैसे ही तू मुझे अकेले
जग में पल न भुलाए"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. २६६)

परमात्मा को सदा अपने निकट पाकर अब उन्हें अनजानी राहों का भय और चिन्ता नहीं. उन्होंने परमात्मा की शरण न छोड़ने का दृढ़ निश्चय किया है. रामायण और गीता में की गयी भगवान की घोषणा पर उन्हें विश्वास है.

"सर्वधर्मान् परित्यज मामेकं शरणं व्रज
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः"
(श्रीमद्भगवद्गीता, १८/६६)

"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते
अभयम् सर्व भूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतम् मम"
(श्रीवाल्मीकि–रामायण, युद्धकांड, १८/३३)

अर्थात् जो प्राणी मुझे एक बार भी आकर यह कह

देता है कि मैं आपकी शरण में आ गया हूँ और आपका हूँ, इस प्रकार प्रार्थना करता है, मैं ऐसे संपूर्ण जीवों को निर्भय कर देता हूँ, यह मेरी प्रतिज्ञा है.

"कितना भी मुँह फाड़ें अब ये
अजगर-सदृश अँधेरे
गूँजा करते हैं प्राणों में
शब्द मधुर वे तेरे
'जो मुझ पर आश्रित हैं उनको
कभी अनाथ नहीं छोड़ूँगा'
तेरा साथ नहीं छोड़ूँगा"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. ३४)

कवि प्रभु के शरणागत हैं, और प्रभु शरणागत-वत्सल. उनकी शरण में आए हुए को कोई हानि नहीं पहुँचा सकता. जिसने अपना सब कुछ भगवान को सौंप दिया है उसका मन एक शान्ति और निश्चिन्तता का अनुभव करता है और वह बहिर्जगत की बाधाओं तथा विघ्नों का हिम्मत से मुकाबला कर सकता है. प्रभु की कृपा से तो पाषाण भी तिर सकता है. जैसे एक चंचल बालक पिता की गोद में तो रहना चाहता है किन्तु वह गोद में मुँह छिपाता नहीं वरन् आँखें खोलकर मेले की विभिन्न झाँकियों का आनंद लेता है. वह खिलौनों और रंग-बिरंगी वस्तुओं की ओर आकृष्ट होकर हाथ बढ़ाता, छूता, महसूस करता चलता है. ऐसे ही कवि भी भगवान की शरण तो चाहते हैं किन्तु जगत की ओर से आँखें मूँदना नहीं चाहते. भय से त्राण पाने के लिए उन्हें भगवान की शरण चाहिए.

"भय से दो त्राण
भीरुता, विकलता से मुक्त करो प्राण"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. ४३)

राग–विराग

भगवान की शरण में जाने का अर्थ यह नहीं है कि उनका राग भी शान्त हो जाय. उनके लिए परमात्मा की शरण तो साध्य है पर इसके लिए वे जग को नहीं छोड़ सकते.

"हमारे कहने पर मत जाएँ
कब हमने मन से चाहा है,
शरण आपकी आएँ!

. . .

हाँ, यदि साथ इसे भी कर लें
निर्गुण में भी कुछ गुण भर लें
तो हम भी वन का पथ धर लें
जग से दृष्टि फिराएं"

ग्रं. १, भाग २, पृ. २४०)

कवि ने मोह के तंतुओं को एक–एक करके तोड़ा है किन्तु कृतित्व के मोह को वे नहीं छोड़ पाते; छोड़ना भी नहीं चाहते यद्यपि उन्होंने इसके लिए प्रार्थना भी की है.

"मेरे मन से कृतित्व का मोह हटा दे;
शब्दों का आवरण भेदकर
मैं तेरे रूप का दर्शन कर सकूँ,
हृदय में वही प्रीति जगा दे;"

(ग्रं. २, पृ. १८३–१८४)

भक्ति का वैराग्य के साथ निकट संबंध है. जब भक्त अपने समस्त राग को परमात्मा की ओर उन्मुख कर देता है तो जगत की ओर से वैराग्य होना स्वाभाविक है. कवि के साथ अनोखी स्थिति यह है कि वे वैराग्य की प्रार्थना तो करते हैं किन्तु इसके लिए जगत से मुँह नहीं मोड़ना चाहते.

"चाह यह नहीं पूर्ण निष्कृति दो
सब को कहूँ, 'तुम्हारा हूँ मैं',
बस इसकी अनुमति दो"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. २४३)

कवि को पूर्ण वैराग्य अभिप्रेत नहीं. वे केवल इतना ही वैराग्य चाहते हैं कि उनकी भक्ति-भावना भी अबाध चलते रहे और काव्य-साधना भी. यों संसार में रहकर पूर्ण वैराग्य संभव भी नहीं है.

मन ही वह आधार है जहाँ भक्ति के बीज अंकुरित होते हैं और मन ही षट्विकारों का आश्रयस्थल भी है. कवि के अनुसार इन विकारों को एक-एक कर निकालने के प्रयास में तो मन ही समाप्त हो जाएगा और मन के बिना तो भक्ति नहीं हो सकती. नारदजी के अनुसार षट्विकारों को निकालने का अर्थ इनका रुख संसार की ओर से भगवान की ओर कर देना है. माया, मोह आदि विकार संसारोन्मुख करने से विध्वंसात्मक शक्ति में परिवर्तित होते हैं जो कि भगवद्विरोधी कार्य है. ईश्वरोन्मुख प्रेरित करने पर ये ही विकार संरचनात्मक शक्ति में परिवर्तित हो जाते हैं और इस प्रकार साधक की साधना में सहायक होते हैं.

"मन का विष हरण करो हे!
वरण करो, वरण करो, वरण करो हे!
ताप-तप्त जीवन हो अभय नाथ!
छोड़ो न हाथ कभी,
रहो सदा रजनी में साथ-साथ
छिन्न घोर तम का आवरण करो हे!
मन का दुःख हरण करो हे!"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. ३२)

काव्य-साधना की तरह भक्ति-भावना भी भगवत्कृपा के बिना नहीं प्राप्त होती. भक्ति की राह दिखाने में गुरु सहायक होते हैं या सीधे परमात्मा की कृपा से यह संभव हो सकता है. इसीलिए गुरु को 'साक्षात्परब्रह्म' कहा जाता है. गुलाबजी सीधे परमात्मा से अपने भक्ति-भाव की दृढ़ता की प्रार्थना करते हैं. वे यह स्पष्ट कर देते हैं कि उन्हें भक्ति ही चाहिए, मुक्ति हर्गिज नहीं.

"मुक्ति नहीं भक्ति चाहिए
तुझमें अनुरक्ति चाहिए
. . .
प्रेम सुख समाज हो यही
रागमय विमुक्ति चाहिए"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. १२१)

भक्ति का प्रकटीकरण ही भजन है. सगुणोपासक भक्त-कवियों की तरह कवि भी बारम्बार जन्म लेकर भगवत्भजन करना तथा भक्ति-सुधा का आनन्द लेना चाहते हैं.

"जो सुख नाथ! भक्ति की धुन में
वह कब है निस्पृह निर्गुण में
बन सच्चिदानंद क्या उनमें निजता रह पाएगी?"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. २५५)

"इसे न जग से मुक्ति चाहिए
छिपी भक्ति में भुक्ति चाहिए
बस इसकी ही युक्ति चाहिए
दिखे पुण्य-पथ-गामी
कैसे पहुँचूँ तुझ तक स्वामी!
मैने हर मालाधारी की, उँगली भी हो थामी?"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. २६४)

"किन्तु मुझे तो नाम रूप मय
जीवन ही था प्रियतर
मुझसे भी पूछा कि जँची है
मुक्ति भुक्ति से बढ़कर?"
(ग्रं. १, भाग २, १७९)

कवि यद्यपि भक्त कवियों की तरह मुक्ति का निरादर और भक्ति की कामना करते हैं पर इसके पीछे उनके कारण भिन्न है. संतों ने जगत को छलना, मिथ्या और असार माना है. कवि संसार के सभी दोषों को जानते हुए भी उससे लगाव रखते हैं और उस लगाव को छिपाते नहीं हैं. उनके मुक्ति न चाहने के पीछे दो कारण हैं, संसार से लगाव और अपनी अस्मिता के विलोप का भय.

"यदि तुझमें लय हो जाऊँगा
फिर यह तीर कहाँ पाऊँगा!
मैं तो यहीं कुटी छाऊँगा
ढहती हो, ढहने दो
जग का यह लीलाधर न्यारा
क्या, यदि मुझको लगता प्यारा!
जड़ माया का इसे पसारा
संतों को कहने दो
मुझे तो लहर बना रहने दो
हे असीम! मुझको अपनी ही सीमा में बहने दो"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. १८१)

क्षमायाचना

अपने दोषों से कवि अनजान हैं ऐसा नहीं है. लोभ, मोह आदि के वशीभूत होकर की गयी भूलों के लिए उनके हृदय में ग्लानि है. वे करुणामय, क्षमासिन्धु और

अपने एकमात्र शरणस्थल भगवान से अपने दोषों को गिनाते हुए व्याकुल हृदय से क्षमा-प्रार्थना करते हैं.

"थे अनीति पर चुप्पी धारे, क्षमा करो
डिगे सत्य से भय के मारे, क्षमा करो
चिर-अहैतुकी कृपा तुम्हारी पाकर भी
फिरे जगत में हाथ पसारे, क्षमा करो"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. १५४)

निर्बल विश्वास के कारण क्षमा माँगकर भी उनका मन डोलता है. क्षमा-याचना के बाद उन्हें संशय होने लगता है कि जगत तो कार्य-कारण-नियम से बँधा है. हर कार्य के पीछे कोई न कोई कारण होता है. इस प्रकार कार्य-कारण की श्रृंखला चलती जाती है. कारण से कार्य भिन्न नहीं होता और यदि होता भी है तो तभी जब इस श्रृंखला में कोई व्यवधान आता हो. यह व्यवधान दो प्रकार से आ सकता है - परमात्मा के हस्तक्षेप से और निष्काम कर्म से. निष्काम कर्म से भी प्रारब्ध नष्ट नहीं होता. प्रारब्ध से छुटकारा पाने का एक ही उपाय है, परमात्मा की कृपा और उनके द्वारा अपराधों को क्षमा किया जाना.

"सुलभ मुझे जो शक्ति क्षमा की
चिर-स्वतन्त्रता चेतनता की
क्या न रही वह तुझमें बाकी!
अपने से ही हारा?
बाँध कर नियमों से जग सारा
क्या बँध गया नियामक तू भी आप उन्हींके द्वारा?"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. २७०)

कवि उस युग में अवतीर्ण हुए हैं जब मनुष्य चाँद पर टहल कर आ गया और नित्य नये ग्रह-नक्षत्रों को अपने अन्वेषण का निशाना बना रहा है. विज्ञान की प्रगति और

नवीन आविष्कारों के युग में भक्ति भी संक्रमित हुए बिना नहीं रह सकती. कवि तर्क-वितर्क करते हैं. वे भगवान से क्षमा माँगते हैं इस विश्वास के साथ कि सहज कृपालु प्रभु उनके सभी दोषों, पापों को अवश्य क्षमा कर देंगे. पर तभी संशय अपना फन उठाता है कि कार्य-कारण की श्रृंखला में बँधा नियामक क्या अपने नियम में व्यवधान डाल सकता है? क्या जगत को नियमों में बाँधकर वह स्वयं भी नहीं बँध गया है?

कवि इसे स्वीकार नहीं कर पाते कि नियामक में क्षमा की शक्ति नहीं. वे तर्क करते हैं कि यदि उसमें भावनाएँ हैं तो प्रेम भी है और क्षमा भी. यदि उसमें भावनाएँ ही नहीं हैं तो हम अपनी भक्ति किसे प्रेषित कर रहे हैं!

"यदि जो किया वही पाएंगे
किस दिन आप काम आएंगे!
फिर तो स्वामी बन जाएंगे
पानी, बिजली, भाप
न है मेरे दोषों की माप"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. २३९)

कवि पुनः तर्क करते हैं कि यदि नियामक में भावनाएँ नहीं हैं तो मनुष्य ने ये भावनाएँ कहाँ से पाईं? अपने ही तर्क-वितर्कों में उलझकर कवि कातर हो उठते हैं.

"क्षमा का ही तेरी संबल है
नाथ! न मेरे पास किसी साधन, पूजन का बल है
भक्ति भाव भी मुँह पर केवल
जिसमें त्याग-विराग न तप-बल
बाहर से कितना भी उज्ज्वल

भीतर छल ही छल है"

(ग्रं. १, भाग २, पृ. २७५)

भगवान की कृपालुता, प्रेम, संरक्षण के आधार पर वे उनसे अपनत्व का अनुभव करते हैं और इसी अपनत्व के बल पर वे उनसे अपने अपराधों की क्षमा माँगते हैं. वे सोचते हैं कि नियमानुसार संभवतः उन्हें क्षमा न भी मिल सके. अतः वे भगवान को यह विकल्प देते हैं कि यदि उनके अपराधों को क्षमा नहीं मिल सकती तो कम से कम उन्हें दंड सहने की शक्ति दी जाय.

"क्षमा यदि कर न सके अपराध
तो दे शक्ति दंड सहने की, है यह अंतिम साध
'सारे धर्म छोड़ मुझको धर
मैं कुल पाप हरूँगा, मत डर'
तेरी यह वाणी करुणाकर
यदपि गाँठ ली बाँध"

(ग्रं. १, भाग २, पृ. २६५)

एक और जिस शक्ति की वे याचना करते हैं वह है कवित्व शक्ति की. अपनी काव्य-यात्रा के प्रारंभ मे उन्होंने "वाणी का वर" माँगा था. अब वे याचना करते हैं कि उनकी काव्य-साधना आजीवन चलती रहे क्योंकि यह उनके लिए श्वास-प्रश्वास की तरह अनिवार्य है.

"यदि इस वंशीवादन को रुकना ही है
तो मेरी साँस के साथ-साथ ही रुके,
मेरी हर फूँक से सुरीली रागिनी ही फूटती रहे,
जब तक मैं चुक नहीं जाऊँ,
इसकी तान भी नहीं चुके"

(ग्रं. २, पृ. १६६)

उन्हें अपनी कृतियों से मोह तथा यश की प्रच्छन्न

कामना भी है. पर इस मोह को वे त्यागना नहीं चाहते.

"नाम–रूप तो जग में छूटे
क्यों निज कृति से नाता टूटे
जब कोई पढ़कर सुख लूटे
मैं भी जुड़ जाऊँगा
बासी फूल नहीं लाऊँगा
तुझे शेष तक ताजा फूलों की
माला ही पहनाऊँगा"
(दिया जग को तुझसे जो पाया, पृ. ३४)

इस मोह का रुख परमात्मा की ओर कर देने पर उन्हें अपनी हर पंक्ति में वही दिखाई देता है. इस प्रकार काव्य–साधना और भक्ति–भावना में कोई भेद नहीं रह जाता.

गीता में अनेक प्रकार के योगी तथा यज्ञों का वर्णन है.

"द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः"
(श्रीमद्भगवद्गीता, ४/२८)

गुलाबजी की काव्य–साधना भी इन्ही यज्ञों की तरह एक यज्ञ है. उनकी प्रत्येक कविता इस यज्ञ की हवि है जिसकी आहूति वे एक निष्काम कर्मयोगी की तरह दे रहे हैं. उनकी काव्य–साधना एक पूजा है. वे अपने अंतर का रस उँड़ेलकर कविता लिखते हैं और उसे भगवान के चरणों में निवेदित कर देते हैं. प्रणामस्वरूप भेजी गयी कविता देवता के चरणों तक पहुँच रही हैं या नहीं यह जानने को वे उत्सुक हैं.

"माना बहुत सत्य, शिव, सुन्दर
पहुँच सकेंगे पर चरणों पर

भेज रहा हूँ जो लिख-लिखकर
मैं ये तुझे प्रणाम?"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. ९२)

अपनी प्रार्थना का प्रत्युत्तर न मिलने पर उन्हें खेद और साथ ही संदेह होता है कि शायद उनकी प्रार्थना प्रभु तक पहुँची ही नहीं. प्रार्थना में बहुत शक्ति होती है. वह प्रभु के प्रति प्रार्थी के विश्वास की द्योतक है. यदि किसी कारणवश वह प्रभु तक नहीं भी पहुँची तो कम से कम अपने उद्‌गमस्थल प्रार्थी को तो अवश्य पवित्र कर देगी. इसी आस्था से कवि स्वयं को दिलासा देते हैं.

"नहीं यदि तुझ तक भी पहुँचेगी
पर मेरी प्रार्थना नहीं क्या मुझे कृतार्थ करेगी!
. . .
पर प्रतिध्वनि बन जब मेरा स्वर
तेरे अगम द्वार से मुड़कर
स्नेह-स्निक्त कर देगा अंतर
बुझती लौ न जलेगी!"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. २६६-२६७)

मुखापेक्षिता

कवि अपने कार्यों में प्रभु की रुचि, सहयोग तथा अनुमोदन चाहते हैं. वे अपने स्वर से प्रभु को रिझाना चाहते हैं, उनमें एकाकार नहीं होना चाहते. वे प्रभु की प्रतिक्रिया की कामना करते हैं. भगवान भी उनके गीतों को सुनें, तथा ताल भी देते रहें. ताल देने से गायक को पता चलता रहता है कि उसका गायन पसन्द किया जा रहा है और उसका जोश बना रहता है

"बन पति, पिता, बंधु, गुरु, सहचर

देता रह बस ताल निरंतर
साध यही, निज सुर में गाकर
फिर-फिर तुझे रिझाऊँ
कैसे तेरे सुर में गाऊँ!
डर है मुझको, इस धुन में मैं
अपना सुर न गँवाऊँ"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. २६७)

अपनी समस्त साधना के बदले में भगवान का मौन उन्हें अखर जाता है. यह मौन बार-बार संशय को को उकसाता है. इस संशय से छुटकारा भी प्रभु ही दिला सकते हैं.

"तू है सतत मौन-व्रत साधे
फिर भी मुझसे आशा बाँधे!
श्रद्धा आधी, संशय आधे
कैसे लाघूँ घेरा!
कभी तो ठहरे यह मन मेरा"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. २६९)

"क्या फल प्रभु! कृपालु भी यदि तुम
रहो छिपे प्रतिमा में गुमसुम
हँसो न तनिक, भाल पर कुंकुम
जब मैं नाथ लगाऊँ!"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. २५४)

कवि अपनी रचनाओं पर भगवान का अनुमोदन चाहते हैं. तुलसीदास के लोक-भाषा में लिखे काव्य पर काशी-विश्वनाथ ने अपनी मुहर लगाई थी तभी वह विद्वज्जनों को स्वीकार्य हुआ.

काशी के सर्वमान्य आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने लिखा था -

"आनन्दकानने ह्यस्मिन् जंगमः तुलसी तरुः
कविता-मंजरी यस्य रामभ्रमरभूषिता"

ऐसी ही स्वीकृति वे अपनी रचनाओं पर भी चाहते हैं. इसके बिना उन्हें अपना सारा कार्य-कलाप व्यर्थ लगता है.

"ज्यों तुलसी का मानस पढ़कर
तुमने लिखा 'सत्य, शिव, सुन्दर'
वैसे ही मेरी रचना पर
अपनी मुहर धरो"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. १८४)

"जब हट जाय भीड़ का रेला
मैं सेवा में रहूँ अकेला
चाहूँ बस, पुस्तक आगे ला
तू हस्ताक्षर कर दे"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. २६८)

सहजता

इस प्रकार कवि एक साधारण मनुष्य की तरह भगवान से आस्था- विश्वास, भक्ति-वैराग्य, क्षमा-शरण आदि की याचना करते हैं तो एक कवि की तरह अपनी मानस-पुत्री कविता केलिए भी प्रार्थी हैं. स्वयं अपने जीवन केलिए उन्हें विशेष कुछ नहीं चाहिए. जैसा सहज जीवन उन्होंने चाहा है, वैसा ही जिया है.

"जीवन को सहज-सहज जिया है
प्राप्त का विरोध नहीं किया है
फूलों से हार गूँथ डाले हैं
काँटों से घर घेर लिया है"
(ग्रं. ३, पृ. १११)

काव्य तथा भक्ति, दोनोंकी साधना में वे इस सहजता के पक्षधर रहे हैं.

"सहज हो प्रभु साधना हमारी
सहज रहे जीवन और सहज हो मरण
सहज सदा चिन्तन हो, सहज आचरण
सहज–सहज कर लें हम वरण वे चरण
शरण–क्लेशहारी"

(ग्रं. १, भाग २, पृ. ४९)

भक्ति–काल के कवि साधक पहले थे, कवि बाद में. उनके लिए काव्य साधन था, भक्ति साध्य. किन्तु गुलाबजी पहले कवि हैं, बाद में भक्त. यों उनकी भक्ति–भावना काव्य–साधना के साथ–साथ चलती है.

सूर, तुलसी कबीर आदि के सम्मुख उनके आराध्य का एक निश्चित स्वरूप था और वे आजीवन उसीकी आराधना में लगे रहे. सूरदास ने कृष्ण, तुलसीदास ने राम और कबीरदास ने निर्गुण ब्रह्म के आधार पर अपनी भक्ति–भावना को स्थापित किया. गुलाबजी के सम्मुख ऐसा कोई आधार नहीं था. उन्होंने भगवान के लीकबद्ध स्वरूप का ध्यान नहीं किया है. 'गीत–वृन्दावन' तथा 'सीता–वनवास' में भी कृष्ण और राम का जिक्र विषय की अनिवार्यता के कारण हुआ है. जिस चेतन स्वरूप से विश्व के सभी प्राणियों के तार जुड़े हुए हैं; वही राम है, वही कृष्ण, वही निर्गुण ब्रह्म. कवि का आराध्य होकर भी गुणवत्ता में उनसे अनूठा है क्योंकि वह असाम्प्रदायिक है.

गुलाबजी की भक्ति–भावना स्वतः–स्फूर्त है. उसका न तो कोई विशेष स्वरूप ही है न कोई निश्चित रूप–रेखा ही. वह दास्य, सख्य, वात्सल्य आदि विभाजनों से ऊपर तथा निराकार–साकार आदि झंझटों से मुक्त है.

भक्त चाहे जिस मार्ग से उपासना करता हो, हर भक्त और उसकी भक्ति का ढंग अनूठा होता है. हम अपनी सुविधा के लिए उसे सगुणोपासक, निर्गुणोपासक आदि विशेषण दे देते हैं. यथार्थ में जितने भक्त हैं उतनी ही तरह की भक्ति है.

कवि का अनूठापन इसमें है कि उनकी भक्ति–भावना के लिए कोई फलक नहीं है. बिना किसी निश्चित आधार के भक्ति का इतना बड़ा घटाटोप उन्होंने अपनी भावना के बल पर ही खड़ा किया है. वे अपने अंतःकरण की वाणी को ही शब्द देते हैं.

"भित्ति नहीं है कोई
फिर भी इन रेखाओं में मैंने निज सृष्टि सँजोयी"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. १८९)

गुलाबजी यद्यपि सगुणोपासक की परिभाषा में नहीं आते किन्तु सगुणोपासक की तरह ही वे मोक्ष से दूर भागते हैं. मोक्ष से इस वितृष्णा के दो कारण हैं.

१. उन्हें इस धरती से, उसकी माटी से, उसके छोटे–छोटे सुख–दुःख से प्यार है. वे कवि पहले होने के कारण अपने अंतर के राग को छोड़ नहीं सकते. यह राग संसार के सभी छोटे–बड़े तत्त्वों से, सदा साथ निभानेवाली अपनी कृश काया से उनका लगाव बनाए रखता है.

"तूने कितना प्रेम निभाया!
कहाँ–कहाँ ले फिरी मुझे तू,
ओ मेरी कृश काया!"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. २३०)

२. वे अपनी अस्मिता बनाए रखना चाहते हैं, भगवान में उसका विलय नहीं चाहते. भक्ति में चाहे वे कितना भी ऊपर उठें, भगवान से उनका द्वैत बना रहे, यही

चाहते हैं.

मोक्ष नहीं चाहने के ये दोनों कारण मौलिक हैं. सगुणोपासक मोक्ष नहीं चाहते क्योंकि वे बार-बार जन्म लेकर भगवद्भजन करना, भक्ति का आनन्द लेना चाहते हैं.

"सगुणोपासक मोच्छ न लेहीं
तिन कहँ राम भगति निज देहीं"
(रामचरितमानस, ६/११२)

दूसरी बात यह है कि सगुणोपासना में यदि मोक्ष होता भी है तो वह कैवल्य की पदवी नहीं प्राप्त करता. सगुण भक्त का भगवान से पार्थक्य बना रहता है. उनके यहाँ मोक्ष की पाँच कोटियाँ मानी गयी हैं-

१. सालोक्य-भक्त भगवान के लोक तक जा सकता है.
२. सामीप्य-भक्त भगवान के समीप तक पहँच सकता है.
३. सायुज्य-भक्त भगवान के अंगों से जुड़ सकता है.
४. सारूप्य-भक्त भगवान के समान रूप पा सकता है.
५. सार्ष्ट्य-भक्त भगवान के समान सृष्टि का निर्माण कर सकता है.

पर भक्त कभी उनके समान भगवान नहीं बन सकता. भगवान से उसका पार्थक्य सदा बना रहता है और यह पार्थक्य शाश्वत होता है. कवि मुक्ति का अर्थ कैवल्य पद प्राप्त करना या प्रभु में समाहित होकर स्वयं का विलोप होना समझते हैं और इसीलिए मुक्ति से वितृष्णा दिखाते हैं.

"यदि इस लय में आत्म-विलय हो
क्यों न मुझे फिर इससे भय हो
यही दया कर, जब संशय हो
अंतर में सुन पाऊँ
कैसे तेरे सुर में गाऊँ!
(ग्रं. १, भाग २, पृ. २६७)

संभवतः ऐसा किसी गुरु की शरण में जा कर सगुणोपासना की दीक्षा न लेने के कारण हुआ है. भक्त कवियों ने वही कहा जो उन्होंने अपने मन की आँखों से देखा.

"यह सब मैं निज नयनन देखा" – तुलसीदास
"तू कहता कागद की लेखी
मैं कहता आँखन की देखी" – कबीरदास

इस दृष्टि से उनका कथन केवल काल्पनिक उड़ान या दूर की कौड़ी नहीं है फिर भी उन्होंने उसमें अतिशयोक्ति और काव्योक्तियों का बहुत सहारा लिया है जिसका गुलाबजी में अभाव है. वे अपने आराध्य का भावना के स्तर पर न केवल साक्षात्कार करते हैं बल्कि सीधा अंतरंग वार्तालाप भी करते हैं. वे कहते हैं –

"जब भी मैंने खींची रेखा
पास खड़े तुझको ही देखा
मेरे जीवन का यह लेखा
तूने लिखवाया है"
(ग्रं. १, भाग २, पृ. १५३)

कवि की एक अन्य विशेषता यह रही कि उन्होंने कभी सिद्धान्तों का प्रचारक बनने की प्रयास नहीं किया, उन्हें प्रस्तुत भर किया है. एक बार गया में साहित्यकारों को संबोधित करते हुए विनोबाजी ने कहा था कि विचारों की अहिंसा ही साहित्य है. यह सिद्धान्त कवि पर अक्षरशः लागू होता है. उनके जीवन-दर्शन में विचार, सिद्धान्त और चिन्तन तो भरपूर है पर सब स्वयं के लिए. उन्होंने उन्हें केवल प्रस्तुत किया, पाठकों पर उन्हें थोपा नहीं और इसीमें उनकी शोभा है.

दिनकर के अनुसार संसार में दो प्रकार के

साहित्यकार हैं – अहैतुक और सहैतुक. इनमें से गुलाबजी अहैतुक की कोटि में आते हैं. पर जर्मन दार्शनिक गेटे के अनुसार कोई भी महान साहित्य कितना भी अहैतुक हो, वह आपकी आत्मा का उन्नयन अवश्य करेगा तथा आपको सद्विचारों की ओर अवश्य प्रेरित करेगा.

सहैतुक होने से कविता के उपदेशात्मक होने का खतरा रहता है. तुलसी और कबीर जैसे महान कवि भी इस दोष से नहीं बच सके हैं. गुलाबजी ने जहाँ कुछ उपदेश दिये भी हैं तो स्वयं अपने प्रति या अपने मन के प्रति. इससे उनमें प्रचार–तत्त्व की शुष्कता तथा अकवित्व का दोष नहीं आ पाया है.

गुलाबजी की भक्ति–भावना उनकी काव्य–साधना में गुँथा एक सुनहला धागा है. वे यद्यपि कवि पहले हैं भक्त बाद में, पर उनकी भक्ति–भावना का स्रोत काव्य–धारा में ऐसा घुल मिल गया है कि उसे अलग से देखना संभव नहीं. उसकी आवश्यकता भी नही, क्योंकि यह भी उनके जीवन का एक रंग है.

अन्त में

जैसे एक वाटिका माली के सपनों का साकार रूप होती है, उसी प्रकार काव्य–रचना भी कवि के भाव–संसार को सजीव और साकार करती है. गुलाबजी के गहन और विशाल काव्य–जगत का परिचय हमें उनकी कविताओं में मिलता है. उनकी काव्य–वाटिका भावों के विविधवर्णी पुष्पों से सुशोभित है.

वस्तुतः गुलाबजी की रचनाएँ उनके विकासशील जीवन और चिन्तन की उपज होने से उनमें सदा एक–सा भाव नहीं मिलता. अतः कई बार हम परस्पर विरोधी भाव या विचार भी पाते हैं. सामान्यतया तो इस प्रकार जब बातों में विभेद या विरोध दिखाई देता है तो परवर्ती बातों को ही महत्त्वपूर्ण मानने की प्रथा रही है किन्तु कलात्मक अनुभूति में यह नियम लागू नहीं किया जा सकता. कवि का सत्य तार्किक के सत्य से भिन्न होता है. भावना के स्तर पर जिस सत्य को अनुभूत किया जा सकता है, तर्क पर उसे नहीं कस सकते. यही कारण है कि भिन्न–भिन्न काल में उठनेवाले भाव परस्पर विरोधी तो हो सकते हैं किन्तु उनमें से एक को सत्य तथा दूसरे को मिथ्या नहीं कह सकते. वे सभी भाव सत्य हैं – कवि के अपने जीवन की तरह. अंतर केवल इतना है कि एक एक काल का सत्य है, दूसरा दूसरे काल का सत्य.

जिस प्रकार कली का सौंदर्य फूल और फल के सौंदर्य से सर्वथा विलग है किन्तु कली, फूल और फल तीनों की सुन्दरता अपने आप में अप्रतिम है. फल को हाथ

में लेकर हम कली और फूल की सुन्दरता को नकार नहीं सकते. इसे ही श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर इस प्रकार कहते हैं,

"विश्व–विधि का एक नियम यह देखता हूँ कि जो आसन्न है, जो उपस्थित है, उसको वह छोटा नहीं करने देती, उसको यह बात नहीं जानने देती कि वह एक सोपान, परम्परा का अंग है. उसको समझा देती है कि वह अपने–आप में पर्याप्त है. फूल जब खिल उठता है तब मन में यही आता है कि जैसे फूल ही पेड़ का एकमात्र लक्ष्य हो. . . और फिर फल को देखकर लगता है कि जैसे वह सफलता का अंत हो लेकिन तब यह बात छिपी रह जाती है कि वह अपने गर्भ में भावी वृक्ष के बीज को पका रहा है."

(रवीन्द्रनाथ के निबन्ध, आत्मपरिचय, पृ. २५,२६)

इसी प्रकार गुलाबजी के निरंतर विकासमान जीवन, चिन्तन और साहित्य में हम उनके पूर्ववर्त्ती साहित्य के विचारों, भावनाओं और चिन्तन को परवर्त्ती चिन्तन से भिन्न या विरोधी होने पर भी पूर्णतः निरस्त नहीं कर सकते. उनका महत्त्व तो उनके जीवन और सिद्धान्तों पर विचार करते समय अवश्य रहेगा.